# धूम अनिकेतन

श्रीनरेश मेहता

# हम अनिकेतन

( मेरे लेखन के पचास वर्ष )

# हम अनिकेतन

( मेरे लेखन के पचास वर्ष )
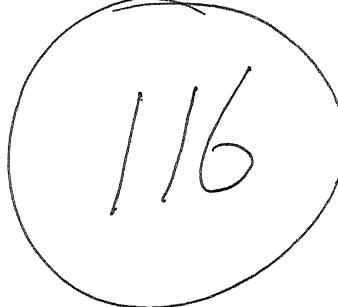
श्रीनरेश मेहता

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद

उन सबको
जो मेरे लेखन में
बिम्ब, प्रतीक, पात्र और चरित्र बनकर निबद्ध रहे
तथा मुझे राग-सम्पन्न बनाया।
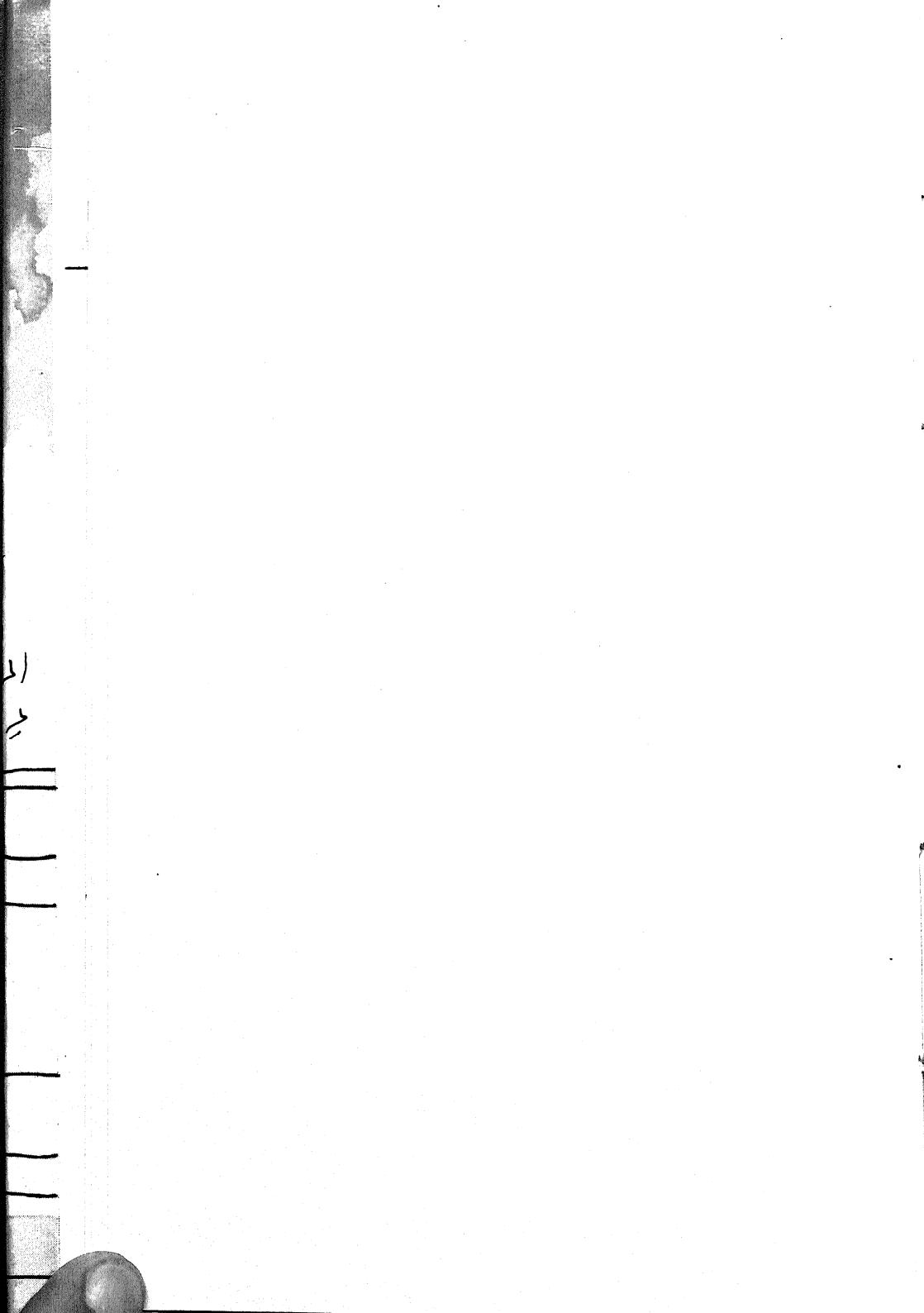
# भूमिका

वस्तुत: 'हम अनिकेतन' अपने गत पचास वर्षों के उस लेखकीय जीवन और अनुभवों का एक ऐसा सर्वेक्षण है जिसे बताया जा सकता था अथवा कहा जा सकता था। सच तो यह है कि किसी भी सम्पूर्णता की अभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं अत: जो सम्भव नहीं उसकी न तो अपेक्षा ही की जानी चाहिए और न उसके लिए परितापित ही होना चाहिए। तात्पर्य यह कि हम जीते एक प्रकार से हैं लेकिन उसे अभिव्यक्त भिन्न प्रकार से करते हैं क्योंकि यही सम्भव और नैसर्गिक है। हम तो केवल यही कर सकते हैं कि भिन्नता की इन दो विपरीतताओं में, भले ही थोड़ी ही सही परन्तु सर्जनात्मक-गाँठ लगा सकें तो इतना ही बहुत है। अभिव्यक्ति को यथासम्भव सर्जनात्मक बना देना ही हमारे हाथों में होता है, बस।

मुझे प्राय: पारिवारिक एल्बम को देखकर असुविधा हुई होगी। लगता है न कि कैसे किरिच-किरिच, टुकड़ों-टुकड़ों में टूटते हुए हम यहाँ तक पहुँचे हैं। काले घुँघराले बालों वाले तब के दैहिक कसेपन से लेकर आज के खल्वाट वाले सफेद बालों की महिमा-मंडित इस शुभ्रता तक कैसे काँख-कूँखकर पहुँचे हैं जिसकी आधारभूत बुनावट में रोज-रोज की छोटी-छोटी भूलें, साहित्यिक असफलताएँ, आर्थिक हाहाकार, परिवेशगत असन्तोष आदि के न जाने कितनी ही तरह के कलाबत्तू से बेल-बूटे कढ़े हुए हमारी ओर देख रहे हैं, विवश। दिखने के स्तर पर जो कामदानी, जरी-पोशाक है वह हमारे अन्तस में मन को कैसी चुभ रही होती है, कसी-कसी सी लगती है कि साँस लेने में तकलीफ होती है। लेकिन इस बानक को क्या किसी दिन किसी को भी पूरी तरह बताया जा सकता है, या कहा जा सकता है? नहीं न, क्योंकि व्यवहार जगत में कहना नहीं, सहना होता है। वस्तुत: हम यहाँ दिखने के लिए ही हुए होते हैं, न कि होने के लिए। होना, हमारा निजपन है, प्रदर्शन नहीं। फिर भी भाषा की सारी शालीनता के बावजूद कुछ तो छलक ही जाता है और इस 'हम अनिकेतन' को भी ऐसा ही कुछ माना जा सकता है।

वास्तविकता तो यही है कि मुझे किसी से भी कोई शिकवा-शिकायत नहीं रही इसलिए चेष्टा भर किसी की अवमानना भी नहीं की होगी और न उपेक्षा ही। हाँ, भूल से किसी के पैरों पर पैर पड़ गया होगा तो उसके लिए आज भी क्षमा माँगने में मुझे क्यों संकोच होना चाहिए ? वैसे पता नहीं जो मेरे निकट परिवार और आत्मीय बनकर रहे उनसे क्या और कैसे कहूँ क्योंकि मेरे व्यक्ति को झेलना तो उन्हें ही पड़ा, और प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ छोटापन तो होता ही है। अतः उनकी विषमता समझ सकता हूँ कि अपने जीने की दुरूहता के साथ किसी अन्य को झेलने की विभीषिका भी उठानी पड़े लेकिन तब भी उफ न करे तब उस स्थिति में आपका सारा ज्ञात बड़प्पन इन अनाम, अज्ञात बड़प्पनों के सामने नगण्य हो जाता है।

जहाँ तक इस आलेख का प्रश्न है तो वह यह कि तीन-चार वर्ष पूर्व ही अशोक वाजपेयी ने इसके लिए प्रेरित किया था। सोचा भी था कि लिख डालूँ परन्तु कुछ अन्य कारणों से तथा अपनी व्यस्तताओं के कारण टल गया। लेकिन दो वर्ष पूर्व प्रभाकर श्रोत्रिय ने आखिरकार इसे पूरा करवा ही लिया। भारत-भवन में जब इसका पाठ हुआ तब ऐसा लगा कि इसकी नोंक-पलक दुरुस्त करनी होगी। इस बीच मोतियाबिंद के आपरेशन के कारण भी देर होती चली गयी इसीलिए छपने में विलम्ब हुआ। शायद छपना इस बार भी टल जाता परन्तु रमेशचंद्र इसे अनिश्चितता के दलदल से निकालने के लिए कटिबद्ध ही हो गये। वैसे कह नहीं सकता कि यह आपको कितना सन्तुष्ट करेगा, पर यदि करता है तो यह आपकी रसज्ञता होगी। हाँ, इस आलेख को जब एक संज्ञा देने की बात उठी तो सहसा नवीनजी की प्रसिद्ध कविता 'हम अनिकेतन हम अनिकेतन' का स्मरण हो आया और कृतार्थ हुआ कि नवीनजी ने इसे संज्ञित किया।

इति नमस्कारान्ते—

होली, १६ मार्च, १९९५<br>
९९ ए, लूकरगंज<br>
इलाहाबाद

# हम अनिकेतन

''लेखन के पचास वर्ष'' से तात्पर्य अभिव्यक्ति के पचास वर्ष, न कि सृजन के। लेखन या अभिव्यक्ति तो सृजनात्मक या अनभिव्यक्त ''आइसबर्ग'' की वह ''टिप'' भर है जो हमें दिखलायी देती है। जीवन के, या अनुभवों के अतल जलों के अन्धकार में गहरे पैठे आइसबर्ग का वह विशाल वास्तविक स्वत्व हम कभी नहीं देख पाते हैं जो उस टिप को निरभ्र व्यक्त किये होता है। निश्चित ही वह टिप नहीं बल्कि ठण्डे, अगम जलों में डूबा पसरा हिमखण्ड ही आइसबर्ग का वास्तविक सृजनात्मक स्वत्व है। जीवन से अनाविल रूप में निबद्ध यह सृजनात्मकता ही जीवन है जिसे धारना हमारी नियति है और भोगना, प्रकृति। जीवन की इस सृजनात्मक सत्ता या स्वरूप को उसकी सम्पूर्णता में अभिव्यक्त या रच पाना किसी के लिए भी कभी सम्भव नहीं हो सका और शायद इसकी अपेक्षा भी नहीं रही। सृजन और लेखन के इस आधारभूत तथा स्वत्वगत पार्थक्य की प्रकृति एवम् प्रक्रिया को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि जीवन की अनभिव्यक्त तथा अकथनीय सत्ता या स्वरूप, सृजन है और अभिव्यक्त तथा कथ्य-सम्भाव्य सत्ता या स्वरूप, लेखन है। पहली अवस्था चूँकि प्राकृतिक है इसलिए व्याकरणातीत महाक्रिया है जबकि दूसरी अवस्था मानवीय है इसलिए व्याकरण सम्मत क्रियापद है।

अपने तिहत्तर वर्षों के जीवन में से आज जब मैं पचास वर्षों के लेखन की ही चर्चा कर रहा हूँ तो ऐसी जिज्ञासा स्वाभाविक ही होगी कि शेष वर्ष क्या हुए?

शायद यह कहना समीचीन होगा कि ये शेष वर्ष लेखकीय अभिव्यक्ति की वह अनभिव्यक्त सृजनात्मकता है जो अन्त:सलिला रूप में आद्यन्त मुझमें तथा लेखन में व्याप्त और समाहित हैं। अपनी ही छाया की भाँति कभी आगे भागते हुए तो कभी पीछे घिसटते हुए या फिर पैरों की राह विलीन होकर भी सृजनात्मकता शाश्वत विद्यमान तथा सक्रिय है। अत: कहा जा सकता है कि हमारे न जानने पर भी सृजन आक्षण घटित होता रहता है, जबकि लेखन तो प्रयाससिद्ध क्रिया है। सृजन और लेखन की समान कुलगोत्रता के बावजूद इस तात्विक भिन्नता को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि सृजनात्मक अवस्था में परिवेश हममें घटित होता है जबकि लेखन की स्थिति में हम परिवेश में घटित होते हैं।

कहा जा सकता है कि यात्रा, चाहे वह किसी की, कैसी ही हो, गति होती है, और गति मात्र की प्रकृति तथा प्रक्रिया होती है—सतह पर अभिव्यक्ति के पूर्व अनाम अँधेरों के बीच से गुजरना तथा उपरान्त पुन: अनामता में विलीन हो जाना। किसी भी मेधावी नदी या वर्चस्वी नद के अभिव्यक्त, आक्षितिज फैले विराट-विकराल स्वरूप को देखकर उसके उस प्रदीर्घ अनभिव्यक्त स्वरूप को, सिवाय अनुमान के, क्या हम कभी उसके यथार्थरूप में जान पाते हैं जो धरती की गहराइयों में अकथनीयता के अँधेरों में शताब्दियों गुमनाम बना रहता है? अनभिव्यक्त जल जिस उद्‌गम बिन्दु पर अभिव्यक्त होने के लिए अपने सम्पूर्ण स्वत्व के साथ जैसा उत्कट, संकल्पी संघर्ष करता है और धरती को फोड़कर बाहर आने के लिए आतुर, रह-रह हाँफ रहा होता है, इसे क्या बिना देखे केवल अनुमान से समझा जा सकता है? वह चाहे वासुदेव अश्वत्थ अभिव्यक्त हो रहा हो या जल, धरती के चट्‌टानी नागपाशों को चीरकर बूँद-बूँद बनकर अभिव्यक्ति के खुले आकाश में थरथराते पैर रख रहा होता है, तब जो संघर्ष, यातना वह भोग रहा होता है, उसे क्या हम कभी भी उसकी तथता में जान पाते हैं? कैसे प्रत्येक जल-बिन्दु औचक, थरथरातेपन के साथ धरती पर सतर्क और सशंक भाव से पैर रखता है जैसे कोई चौकन्ना पक्षी जंगल और आकाश की अपरिमेयता में संभावित आक्रमण और भय की थाह लेता सतर्क हो। सृजन मात्र की यह प्रकृति है—शाश्वत थरथरातापन, जैसा कि नदी के उद्‌गम स्थान पर होता है। धरती के बाहर वनस्पति, नदी, कविता या और कुछ बनकर आना, प्रत्येक बार पहला जैसा ही होता है—अनाश्वस्त। उद्‌गम के चारों ओर फैले, सूखे पत्तों पर नटबाजी करते हुए आरंभिक चलना कितनी और कैसी सिद्धि माँगता है यह उन निरीह जलबिन्दुओं से कभी पूछा होता। चारों ओर फैले, गिरे सूखे पत्तों और टहनियों की छोटी से छोटी बाधा भी कितनी विकट होती है यह उन जल-बिन्दुओं के निराश्रित, नि:शब्द

चलने के टूटे-टूटेपन को देखकर ही समझा जा सकता है। उस स्थिति में मार्ग में आया धरती का छोटा सा कटाव या दरार भी कैसी सुरसा के खुले मुख सी द्रोणी बन जाती है कि बूँदें उसमें हठात् लचक कर समाने लगती हैं। कैसे राम-राम करते दरारें, दर दरारें पार करते मार्ग ढूँढा जाता है। कहने को नगण्य कंकड़ या रोड़ा ही होता है, लेकिन फलाँग कर नहीं बल्कि उन नवजात जलों को कैसे उनकी भी परिक्रमा, पृथ्वी-परिक्रमा जैसी ही करनी होती है क्योंकि बिना परिक्रमा कराये ये अनिवार्य बाधाएँ मार्ग नहीं देती हैं। न टहनियों, न पेड़-जड़ों किसी को भी तो सहानुभूति नहीं होती। हाँ, पेड़ों से झरी धूप की बुँदकियाँ ही एकमात्र सहभोक्ता बनी चारों ओर छितरी फैली होती हैं। बूँद से धारा और धारा से आरंभिक तुतलाता प्रवाह बनने की प्रक्रिया में कैसी और कितनी थकान आ जाती है यह नर्मदा या शोण को उनके अमरकंटक वाले नितान्त सामान्य से लगने वाले एकान्त उद्गम और आरण्यक परिवेश में देखने पर ही समझा जा सकता है। अभिव्यक्ति मात्र के माथे से ऐसा ही पसीना टपकता है। ठीक भी है, बिना लहूलुहान हुए वर्चस्वी स्वत्व भी तो संभव नहीं।

इस प्राकृतिकता और गति का यह रूपक हमारे अपने मानवीय विकास-क्रम में भी लगभग सांगरूपक के रूप में देखा जा सकता है। यह वह सनातनता है जिसका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता, न मनुष्य, न सृष्टि। मानवीय चेतना का अनभिव्यक्त तथा अभिव्यक्त स्वरूप और प्रकृति का भी यही क्रम और क्रिया है। कैसे भाषाहीन नेत्रों और टूटे-टूटेपन के भाव से कालक्रम में हम व्यक्तियों, सम्बन्धों को देखने, छूने और समझने लगते हैं कि अरे एक मुख है जो हमारे जागने भर से या जरा सा रो देने पर कैसे साड़ी से हाथ पोंछता, भागकर, गीले या खुले केशों में हम पर झुक आता है और अपने सीने से सटा हमारे मुँह में एक अलभ्य फल सा कुछ ठेल देता है। और तब कैसे एक स्वाद, एक स्पर्श, एक परितृप्ति घूँट-घूँट बनकर हममें उतरती ही चली जाती है। सम्बन्ध और सम्बोधन, नाम और सर्वनाम से परिचिति तो बहुत बाद की स्थिति होती है। सृष्टि में जीवन मात्र की यात्रा का आरंभ और स्वरूप इसी प्रकार की—अनामता के साथ होता है। कालान्तर में जब सम्बन्धों और घर-परिवार की देहरी लाँघ कर हमारी समझ घुटनों-घुटनों या लटपट चलते हुए संसार को जानने, छूने और अनुभव करने लगती है तब दिन कैसा खुल आता है। समझ और जानकारी के दायरे कैसे दूर से दूरतर चले गये होते हैं। अनुभव और जानकारी के द्वार पर द्वार खुलते जाते हैं। कल तक सामने के या आसपास के फैले मकान तिलिस्म लगते थे पर अब वहाँ की खिड़कियों,

छज्जों, बारजों से सम्बन्ध या परिचिति झाँकती खड़ी होती है। और ऐसे ही एक-एक दिन चलकर हम अपने को विशाल क्षितिज के परिवृत्त से घिरा पाते हैं। कल तक जो आकाश सामने वाले मकान की खपरैल पर टिका हुआ था, जिसे हम चाहते तो छू सकते थे, अब वह न जाने कितनी दूर, बल्कि कितना ऊँचा हो गया होता है। पता नहीं गाँव का सीवान या काँकड़ कहाँ रह गये। घर के सामने का वह नीम, जहाँ पितामह बैठकर खैनी मला करते थे, भी कहीं नजर नहीं आते। ढोर-ढंगर भी पता नहीं कहाँ होंगे। गाँव की वह एकमात्र पगडंडी इस विशालता में न जाने कहाँ बिला गयी। शायद ऐसा ही कुछ बूँद से धारा और फिर धारा से आरंभिक प्रवाह बने शोण के जलों को भी लगता होगा जब उन्हें सहसा एक बड़ी सी मीलों फैली द्रोणी के मुहाने पर पहुँचकर पहली बार प्रपात बनकर छलाँग लगानी पड़ती है। इतनी गहन गहराई में अपने थोड़े से ज़लों को लेकर इतने ऊपर सें कूदना कैसा लगता होगा। जंगली हवाओं के थपेड़ों में प्रपात बने उन छोटे से जलों की ठींक से कूदना न आने के कारण धार भी नहीं बन पाती है। पठारी हवाएँ हैं कि सारा जल तार-तार किये देती हैं। मुश्किल से प्रवाह बना जल फिर बूँद और फुहार बन कर छितर उठता है। कैसे लहूलुहान भाव से द्रोणी की चट्टानों पर टूट कर गिरना ही नहीं होता बल्कि बूँद-बूँद हुए जल-वस्त्रों को जैसे-तैसे समेट प्रवाह बनकर पुनः आगे बढ़ना होता है। क्योंकि अब वह बिन्दु नहीं, जलकणों का समूह भर नहीं बल्कि आरंभिक टूटने की परीक्षा के बाद आरंभिक नदी बन चुका है, और नदी से तात्पर्य है यात्रा, जो कि उसकी नियति है और चलना प्रकृति।

बहुत कुछ हमारी यात्रा या पुरुषार्थ भी ऐसा ही है साथ ही काफी कुछ भिन्न भी। वस्तुतः मनुष्य के पास विचार शक्ति की विशेषता है लेकिन एक स्तर पर यही उसकी त्रासदी भी है। इस वैचारिकता के कारण ही प्रकृति से ही नहीं बल्कि देश-काल सबसे हमारा वह संबंध नहीं रह जाता है जो अन्य जैविकता का है, या होता है। दैहिकता के स्तर पर तो हमारी संरचना भी दूसरी जैविकताओं की भाँति ही है लेकिन चेतना के स्तर पर हमारी संरचना हमसे समतल और ऊर्ध्व दिशाओं में तो योत्रा करवाती ही है परन्तु साथ ही काल के सारे आयाम भी हमारी चेतना के स्वत्व बन गये होते हैं। चूँकि प्रकृति और अन्य प्राणियों में जीवन मुख्य रूप से घटनारूप में ही होता है इसलिए घटित हो जाने के बाद कोई स्मृति नहीं होती इसलिए वैचारिक पूर्वापर संबंध भी नहीं होता। इसीलिए अनुभव या घटना का दुःख अथवा पीड़ा भी घटित हो जाने के बाद निःशेष हो जाते हैं, जबकि मनुष्य के

सन्दर्भ में स्थिति सीधी सरल रेखा जैसी नहीं होती। घटित होने के बिन्दु पर संभव है घटना उतनी महत्वपूर्ण न लगे लेकिन कालान्तर में जब वही स्मृति में रह-रह पुनरावर्तित होती रहती है तब वह स्मृति में धँसी होने के कारण अधिक चुभ रही होती है। काल का त्रिकाल रूप और प्रयोजन केवल मनुष्य के सन्दर्भ में ही होता है क्योंकि मनुष्य ही उसे देखता, अनुभव करता और भोगता है। घटित हुआ काल अपने घटनात्मक स्वरूप में भले ही बीत गया हो लेकिन स्मृति में वह यथावत जीवंत होता है। इसलिए हमारी यात्रा नदी की भाँति होते हुए भी उस जैसी नहीं होती। हमारी यात्रा सम्पन्न तो देश में ही होती है परन्तु उजागर काल को करती है। हम घटित होते हुए जितने आगे बढ़ते हैं उतने ही स्मृति में लौट रहे होते हैं। देश में आगे जाना काल में पीछे जाते जाना भी बनता जाता है। वैचारिकता के कारण देश और काल दोनों ही हमारे लिए सत्ता और स्वरूप हैं। सामान्यत: तो देश मूर्त और काल अमूर्त सत्ताएँ हैं। देश और काल वस्तुत: अन्योन्याश्रित सत्ताएँ हैं। कहना न होगा कि बीतने की प्रक्रिया के समय भी देश और काल मूर्त और अमूर्त रूप में उपस्थित हुए रहते हैं तथा स्मृति के रूप में भी। घटने के समय देश प्रमुख होता है जबकि स्मृति के कोष में काल। इसलिए देश के या अभिव्यक्ति के स्तर पर हम "टिप" होते हैं जबकि स्मृतियों के अनभिव्यक्त स्वरूप से आइसबर्ग। कहा जाना चाहिए कि हम अहोरात्र देश और काल की अनवरत यात्रा करते हैं। हमारी यह यात्रा नि:शेष हो जाने के लिए नहीं होती बल्कि सब कुछ को सृजनात्मक विचार बनाकर परिभाषित करने के लिए होती है। अगत्या यही प्रक्रिया हमें सृजन से लेखन की ओर ले जाती है।

अभी हमने सृजन के विषय में कई प्रकार से विचार करने का प्रयास किया। अत: अब यह कह सकते हैं कि सृजन, प्राकृतिक महाक्रिया है जो अनाविल रूप से सतत प्रक्रियारत है। वह हमें प्रयुक्त कर रहा है, हमारा उस पर कोई नियंत्रण संभव नहीं। वह गुण-दोषों से परे स्वयं अपना ही प्रतिमान और प्रमाण है। यह व्यक्ति के स्वत्व की खनिजता या सृष्टिरूप है। लौकिक दृष्टि से स्वीकृतियाँ और वर्जनाएँ भले ही परस्पर विरोधी हों लेकिन सृजनात्मक रूप में ये सब अकुंठित भाव और रूप में विद्यमान मिलेंगी। निश्चित ही इस प्राकृतिक खनिजता को यथावत रूप में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। इसीलिए लेखन इस प्राकृतिकता या खनिजता को शोधन करके ही प्रस्तुत करता है, क्योंकि प्रस्तुति, पर के लिए होती है, अपने लिए नहीं। जिसे हम शोधन कह रहे हैं वस्तुत: वह अच्छे या बुरे, उचित या अनुचित आदि के निषेधों से निर्देशित होता है। यह निषेध ही वह

सांसारिकता है जो हमारे चारों ओर विभिन्न नामों, संबंधों, परम्पराओं, नैतिकताओं के रूप में सक्रिय है। प्रत्येक लेखकीय संस्पर्शी मानसिकता अभिव्यक्ति के समय इस निषेध से टकराती है। इस टकराहट की गुणात्मकता जितनी तात्विक होगी, लेखन या अभिव्यक्ति भी उतनी ही तात्विक होगी। अनुभव हम संबंधहीन होकर करते हैं लेकिन अभिव्यक्ति के समय सारा संसार हमारे सामने उपस्थित हुआ रहता है। सृजन और लेखन के बीच यह सबसे बड़ी द्विधा की स्थिति शाश्वत है।

किसी की भी स्मृति में सम्पूर्ण जीवन अनुभव रूप में नहीं होता। केवल कुछ स्थितियाँ, वह भी टुकड़ों-टुकड़ों में, हमारी अतीन्द्रियता के अँधेरों में पड़ी होती हैं। लेखन करते समय ये टुकड़े कब और कैसे सतह पर आ जाते हैं, अनायास, कहना कठिन है। आज जब मैं पाँच या छह वर्ष की आयु में देखे किन्हीं स्त्री-पैरों के गोरेपन और चिकनेपन को याद करता हूँ तो लगता नहीं कि वर्षों जिन पैरों को कभी याद भी नहीं किया होगा फिर भी न तो ये बीते ही हैं और न इनका गोरा-चिकनापन ही समाप्त हुआ है। उस दिन कैसे एक लंबा पतला गोरा हाथ जतन से इन्हें और भी उजला रहा था तो क्या उस दिन भी मन में यह नहीं आया था कि इन पैरों का गोरापन कैसा बोल रहा है जैसे आपको बुला रहा हो? निश्चित ही उस स्त्री के साथ निषेध का संबंध ही होगा परन्तु क्या वे पैर संबंधहीन भाव से देखते नहीं लग रहे थे ? गोरे पैरों की वह बुलाती हुई भाषा कैसे मेरे अन्तस्तल में बिना जाने अनुभव बनी रही और आज अभिव्यक्त होने के लिए सतह पर आकर ठिठके भाव से मेरी ओर देख रही है। कहने का तात्पर्य यह कि ऐसी अनेक बातों, संदर्भों में हम वांछित-अवांछित रूप में टूटते-बिखरते रहते हैं। उस आयु में हमारी इन्द्रियाँ पहली बार अपने को प्रयुक्त करना सीख रही होती हैं इसलिए स्वाद, गंध, स्पर्श, दृश्य सब हममें ठंडे शरबत के घूँट से उतरते ही चले जाते हैं। मैं अपने भीतर के अनुभवों के संख्यातीत तिलिस्मों को आज जब याद करता हूँ तो दिलचस्प से कहीं ज्यादा संकटपूर्ण लगता है। दो-अढ़ाई वर्ष की आयु में जिस बच्चे की माँ न रही हो। एक मात्र दीदी का विवाह हो गया हो और वह अपने घर चली गयी हों। पिता सरकारी नौकरी में बराबर बाहर ही बाहर रहते रहे हों तब भला उस बड़े से घर में वृद्ध पितामह और उनकी वृद्धा बहन की उपस्थिति क्या उस बच्चे के लिए परिवार हो सकती थी? किसी भी बच्चे के लिए संबंध या परिवार का ऐसा उपस्थित होना जरूरी होता है जिसे वह कहीं से दौड़ता हुआ आये और उसे छू सके। पड़ौस में पितामह की दूसरी बहन का भरा-पूरा परिवार था जहाँ पहुँचकर मेरे शैशव मन को कितनी तुष्टि मिलती थी परन्तु न जाने क्यों मन उदास हो जाता। शायद इसलिए कि किसी दूसरे का भरापूरापन आप केवल देख सकते हैं लेकिन भोग नहीं सकते। और अतृप्त मन, होरामन तोता बनकर

नगर-सेठ के अहाते की बड़ी सी नीम पर या फिर जति महाराज के विशाल पीपल पर आकाश की अथाहता में उड़ जाने को आकुल, ताकि इस रोज-रोज के अकेलेपन से मुक्त हुआ जा सके।

और एक दिन अपने काका पंडित शंकरलाल मेहता के साथ नर्मदातट के एक निमाड़ी कस्बे धरमपुरी पहुँचा दिया जाता हूँ लेकिन अकेलापन, परिवारहीनता मेरी जान्मिक नियति थे। काका विधुर थे, हालाँकि खूब बड़ा सा आवास, नौकर-चाकर सभी थे पर नहीं था तो घर ही नहीं था। गर्मियों की चाँदनी रातों में अचानक नींद उचट जाती। बगल के पलंग पर मसहरी में लेटे काका गहरी निद्रा में होते। उस बड़े से खुले आँगन में हवा में उड़ती मसहरी में मेरा मन न जाने कहाँ उड़ने लगता। आकाश की नीली गहराइयों में तारे कैसे स्फटिक से चमक रहे होते। उस बड़े से रेतीले प्रांगण में सन्नाटा कैसा लिखा लगता। दूर-दूर तक कहीं कोई शब्द नहीं, पर मेरे भीतर जैसे कोई पुकार रहा होता—माँ !! और यही एक संबंध था जो अनाम तारा बनकर ब्रह्माण्ड की गहराइयों में कभी दिखता, कभी डूब जाता। प्राय: लगता कि मैं चल कहाँ रहा हूँ, विपरीत अनमापी दूरियों के बीच घिसट रहा हूँ। वर्षा के दिनों में जब खूज नदी में पानी होता तो चट्टानों पर उसका जल कितने वेग से बहते हुए शोर कर रहा होता। मैं भी तो इसी प्रकार अपने जलों के साथ टूट-टूट पड़ रहा हूँ, शोर भी है परन्तु इस न सुनायी पड़ने वाले शोर का एकमात्र श्रोता मैं ही होता हूँ। क्या किसी दिन मेरे जलों को फोड़कर मेरा यह चीखना कोई अन्य भी सुन सकेगा? शायद नहीं। यह प्रचण्ड नर्मदा भी कभी नहीं सुन पाएगी। खूज के शोर से तो वह परिचित है परन्तु चट्टानी कगारों पर खड़े एक किशोर की अकेली आर्तता उसे कभी नहीं सुनायी देती। नर्मदा का गंभीर प्रवाह कभी मेरे भीतर के आकुल प्रवाह को अपने में लीन नहीं कर सकता। तट की ये खड़ी विन्ध्या कगारें नर्मदा में कैसी मसृणता से उतर जाती हैं और स्वयं नदी बन जाती हैं। क्या किसी दिन कगारों की इन खड़ी घाटियों से उतरते मैं भी नर्मदा में ऐसे ही समाहित हो सकता हूँ? पानी का बेवड़ा सिर पर उठाये लाल लुगड़ों में खड़ी चढ़ाई चढ़ती इन निमाड़ी स्त्रियों में क्या सम्भव है कोई माँ हो, जिसके साथ घर पहुँचूँ? चूल्हा जला, मुझे सामने बैठालकर प्याज-रोटी या बेसन भात ही परसे, पर परसे तो। एक पूरी रात माँ के उठते-गिरते सीने पर सिर रखकर सोने की अलभ्यता क्या किसी दिन नहीं मिलेगी? सुनते हैं अलत् सबेरे चक्की पर आटा पीसते हुए माँ जो गीत गाती है उस समय माँ की जाँघ पर सिर रखकर सोना दुनिया की सबसे बड़ी नियामत है। ऐसे न जाने कितने राग-प्रसंगों,

आत्मीय सन्दर्भों में व्यक्तित्व के झाड़फानूस के टूटेपन को अवश भाव से देखते हुए अकेले बड़े होते जाने के लिए विवश था। अब मेरे और एकान्त के बीच संधि के अलावा कोई चारा नहीं था। आपस में एक-दूसरे को परेशान या शिकवा-शिकायत से उलझन में डालने के बजाय हममें सखा-भाव आता गया। पुस्तकों को पढ़ने के बजाय उनके साथ यात्रा करना सीखा। नर्मदा में स्थित बेट (द्वीप) में पहुँचकर अब पहले जैसा अकेलापन या उदासी नहीं लगती। वहाँ के मौन सन्नाटे में फैली आरण्यकता, तितलियों सी पंख फैलाये पेड़ों से नीचे उतरती धूप और बात करने को आकुल पेड़, हवा के आते ही सब बोलने की कैसी उतावली पर आ जाते। वन-गंध का झोंका आपाद सुगंधित कर जाता और लगता कि क्या मैं भी ऐसा ही निरपेक्ष नहीं हो सकता? निश्चित ही उस आयु में ऐसी भाषा नहीं थी पर भाव तो यही था। नर्मदा की बड़ी धारा में जलों में उतरा प्रवाह उस बिल्लौरी जल में भागता दिखता जैसे वह नर्मदा से पहले ही भड़ौच पहुँच जाना चाहता है। मध्य धारा में उभरी वह हाथी-चट्टान स्त्रियों की भाँति अंग छुपाये पानी में धँसी नहाकर बाहर निकलना ही भूल गयी है। परली पार के निमाड़ी गाँव, घरों की खपरैलों पर बिल्लियों सा चलता धुँआ कैसे आमंत्रण देते लगते। सामने के सतपुड़ा की पहाड़ियाँ आकाश उठाये-उठाये पता नहीं कहाँ से आती हैं और पश्चिम में कहीं दूर निकल जाती हैं। ऐसे न जाने कितने दृश्य, दृश्यों के टुकड़ों एक कंथा की भाँति हर रोज, दिन उठाये-उठाये हममें से गुजरता है और हमें जीवन की सीढ़ी चढ़ा जाता है।

आज भी मुझे लगता है कि मुझमें से कुछ भी नहीं बीता है जबकि बाहर सब कुछ बदल गया है। अस्पताल की गढ़ी पर पीली घासें उग आयी हैं। अधिकतर मकानों की कमर झुक गयी हैं। उन दिनों के न तेलंग गुरु, न नातू डाक्टर, न जमींदार फतहसिंह, न कमाविसदार पंवार साहेब—कहीं कुछ नहीं रह गया है। तहसील के सामने के मैदान में हवाएँ जैसे कुछ खोज रही हैं, पर क्या? शिवरात्री के समय ब्राह्ममुहूर्त में नर्मदा की छोटी धारा सूख जाती है। उस दिन शिवार्चन के लिए ठठ्ठ के ठठ्ठ में आये निमाड़ी किसान, फ़रवरी के सवेरे की उस ठण्ड से बचने के लिए जलते उनके अलाव और प्रातःकाल का पिघलता अँधेरा, वह सारा दृश्य दूसरे के लिए परीकथा जैसा अविश्वसनीय लगता रहा हो परन्तु मेरे लिए तो ऐसा यथार्थ था जिसे जीवन भर वहन करना था। और ऐसे ही क्षणों में जब मैं किसी का हाथ अपने हाथ में अनुभव करना चाहता और मेरा उठा हाथ आसपास की रिक्तता से टकरा जाता तब फिर आधारभूत एकाकीपन, उदासी चौंका जाती।

यह कैसी प्यास मेरे स्वत्व में व्याप्त थी जो परितृप्त होना ही नहीं जानती थी। हाँ, इतना समझ में आने लगा था कि मैं लाख प्रयत्न करूँ, संबंध का मीठा जल दूर-दूर तक मेरे लिए कहीं नहीं है। शायद अकेलेपन की ओस ही मेरा भाग्य थी। यदि मैं अपने से बाहर निकलकर नर्मदा की भाँति चलना, कबूतरों की भाँति पंख फड़फड़ाते उड़ान भरना कर सकूँ तो परितृप्ति के गोपुर तक पहुँच सकता हूँ बशर्ते मैं भी अपने को नदी की भाँति ही सौंप दूँ, कबूतरों की भाँति ही आकाश लिख सकूँ या पगडंडियों की भाँति ही नामहीन यात्रा कर सकूँ। अपने अलावा और कुछ होना दिलचस्प या रोमांचकारी ही नहीं बल्कि व्यक्ति से स्वत्व बनना है।

हर यथार्थ में जिस प्रकार अनिवार्यत: कल्पना निबद्ध होती है उसी प्रकार प्रत्येक कल्पना का अपना यथार्थ होता है। घर में पुस्तकालय न होता और बच्चों वाली किताबें न होतीं तो जीवन भर लकड़ी के फर्शवाले उन बड़े से कमरों में आते-जाते अपने ही पैरों की आहट कैसे पीछा करती सुनायी पड़ती। लगता कि कोई है जो आपको अकेला पाकर पीछा कर रहा है, पर कौन? और जब पीठ पीछे देखने पर सिवाय लंबी चली गयी दीवारों के और कोई नहीं दिखता तो कैसे काका के उस विक्टोरियन ढंग से सजे कमरे में पहुँच जाने को मन करता जहाँ बड़ी सी हण्डेवाली पीतल की लैम्प प्रकाश दे रही होती और काका अफसर बने या तो कोई फाइल पढ़ रहे होते या फिर कोई किताब। अपने चारों ओर किताबों की दुनिया फैलाकर जहाजियों का कोलाहल, समुद्री तूफानों के बीच कब मेरा यथार्थ, मेरा कल्पनालोक बन जाता, पता ही नहीं चलता कि मैं समुद्री डाकुओं के साथ यात्रा करता हुआ खजाने की खोज में भटकता किसी अनाम टापू पर पहुँच गया हूँ। लगता कि जैसे मैं अपने को अपने पर से उतार कर राबिन्सन क्रूसो को सौंप चुका हूँ जो शायद आज भी दूर समुद्र में झाँकते क्षितिज पर उगते किसी जहाज के मस्तूल की प्रतीक्षा में अकेला बैठा होगा। क्या सच ही बैठा होगा? कमरे की खुली खिड़की से आती कोई आवाज के साथ जब मैं अपने में लौटता हूँ तो लगता है कि मैं भी राबिन्सन क्रूसो की भाँति किसी जहाज की प्रतीक्षा में बैठा हुआ था। लेकिन मुश्किल यह है कि प्राय: नदियों में जहाज नहीं चला करते, तो मैं ही कौन राबिन्सन क्रूसो हूँ। प्राय: जिज्ञासा होती कि क्या किताबें सच कहती हैं? क्या सचमुच ही कोई टारजन हुआ है? या हो सकता है? बंदरों-गुरिल्लों की भाँति पेड़ फलाँगते, जंगली जानवरों के बीच टारजन को कैसा लगता होगा न? क्या क्रूसो या टारजन को भी मेरी ही तरह अकेलापन घेरता होगा? जब कभी अँधेरा हो जाने के बाद भी नर्मदा के सूने एकान्त तट पर मैं होता तो लालटेन लिये चपरासी दूर से आता दिखता, तारों को आकाश में अकेला निरीह छोड़कर लौटते समय मन फिर उदास हो जाता। प्राय: कामना की होगी कि किसी दिन किसी तारे के साथ बैठकर उसके अकेलेपन को लेकर बातें की जाएँ और हम एक-दूसरे का अकेलापन बाँट सकें। यद्यपि यह समझने लगा था कि अकेलेपन में कितनी

संभावनाएँ हैं, स्वतंत्रता है, कहीं कोई बंधन नहीं कि रात हो गयी और इतनी देर तक घर से बाहर क्यों था। ऐसी पारिवारिक चिन्ताएँ ही तो व्यक्ति को स्वत्व नहीं बनने देतीं। जब चौबीसों घण्टे आप घर के तथा चिन्ताओं के खूँटे से बाँध दिये गये हों तब भला क्या खाक किसी क्षितिज तक पहुँचेंगे? परीकथाओं वाली उत्तेजनाएँ, जहाजियों की साहसिक यात्राएँ, किसी निर्जन द्वीप में गड़े अशर्फियों के खजाने को ऐसे खूँटों से बँधे रहकर प्राप्त किया जा सकता है? ऐसे में तो ज्यादा से ज्यादा स्कूल जाया जा सकता है या फिर किसी रिश्तेदार के घर। क्या ऐसे सिमटेपन में बँधे रहने या बड़े होते जाने पर हाथ-पैर अकड़ नहीं जाएँगे? और व्यक्ति की कूबड़ अपने स्वत्व की पीठ पर लादे कोई कितना चल ही सकता है? हाथ, छत छूने के लिए हुआ करते हैं या आकाश छूने के लिए? पाँव, गाम-गोयरे लाँघने के लिए हैं या वही रोज-रोज अपनी सेरी गली नापने के लिए हैं? यथार्थ का यह तो तात्पर्य नहीं कि वह कल्पना को पंखहीन कर दे। नहीं, सब अपने यथार्थ का उल्लघंन करते हुए नदियाँ, वनस्पतियाँ, तारे—क्या कुछ नहीं होते हैं। मुझे भी बस होना है। मैं यदि अपने यथार्थ को अपनी देह की भाँति वहन करने के लिए विवश हूँ तो मैं उसे जिस तरह चाहूँगा कल्पना में परिवर्तित करूँगा तभी व्यक्ति से स्वत्व बना जा सकता है। और बदनावर के रास्ते जाते हुए कपास के खेत रुई के फूल लटकाये मुझे देख रहे थे। इनका पीछे छूटते जाना अन्तर में ऐसा गहरा धँसता जाता कि पता नहीं फिर इन्हें कब देख पाऊँगा।

बदनावर में पुराने ढंग की बड़ी सी हवेली है। नीचे के दालान को बीच से काटते हुए सीढ़ियाँ पीछे की ओर चली जाती हैं। सीढ़ियों के कारण दालान दो भागों में विभाजित हो जाती है। बाँये कोने से ऊपर जाने के लिए जीना है, जहाँ कि हमारा आवास है। इस समय मैं लकड़ी की अंडाकार खिड़की से नीचे झाँक रहा हूँ। नीचे सामने मैदान है, जिस पर कंकड़ियाँ बिछी हैं। इन्हीं कंकड़ियों पर मटकती हुई बतखें बाहरी फाटक की ओर जा रही हैं। मेरे कमरे की इन खिड़कियों से दूर तक के आधे पश्चिमी आकाश के साथ ही पीपल का आधा पेड़पन भी दिखलायी देता है। दूरी पर किसी के घर की मुँडेर भी थोड़ी दिखलायी देती है जिस पर काले मुँहं के बन्दर पूरी निश्चिन्तता से अपनी सारी गतिविधियों के साथ देखे जा सकते हैं—चाहे वह एक दूसरे की जुँएँ बीनना हो या एक दूसरे पर खौखियाना हो। नीचे की दालान में फर्शी मेज के सामने बैठे कारकून दिन भर नौकरी पर आये हुए होते हैं। दालान से सटी सहन के एक खंभे में रेत-घड़ी देखकर सिपाही समय पर घंटा बजाता तैनात रहता है। धरमपुरी में भी काफी-कुछ ऐसा ही था परन्तु वहाँ बड़ा ही खुलापन तथा प्रशस्तता थी और थी नर्मदा, जो कि यहाँ नहीं है। नदी के नाम पर एक कागजी नदी जैसी ही कुछ तो भी थी। यहाँ शायद था अकेलापन कुछ ज्यादा ही हो जाता परन्तु कुछ समय से दीदी आयी हुई हैं। विवाह के बाद इतने लंबे समय के लिए पहली बार आयी हैं, कारण शायद उनकी बीमारी थी। सुना कुछ समय पूर्व दीदी का नवजात बेटा कुछ महीने का होकर चल बसा था, तब से दीदी बीमार रहने लगी थीं। वह कितनी गंभीर बीमार थीं इसकी प्रतीति मुझे नहीं थी। उनके सिरहाने बैठ मैं कभी-कभी उनका सिर दबाता रहता। जब कभी वह मुझे देखने लगतीं तो मुझे न जाने कैसी अव्यक्त आकुलता होने लगती। उनका देखना, झाँकना जैसा होता और इस तरह मेरे भीतर इसके पहले किसी ने भी कभी नहीं झाँका होगा, धरमपुरी के दिनों में बालसखा भवानी शंकर ने भी नहीं। अपने सिरहाने रखी कापी में से वह मुझे कभी कुछ सुनाने लगतीं। बाद में मुझे पता चला कि दीदी कविताएँ लिखती थीं। मुझसे करीब दस-पन्द्रह वर्ष बड़ी दीदी ने मुझे माँ बनकर ही सहेजा था परन्तु मेरे पाँच-छह

वर्ष के होते न होते वह विवाहित होकर चली गयीं। उसके बाद वर्षों बाद दीदी को इतने पास से देख पा रहा था। उनके वे विशाल नेत्र, लंबी पतली क़नेरी उँगलियाँ कैसी अप्रतिम थीं। गर्मियों का तपा पश्चिमी आकाश हम साथ-साथ देख रहे होते हैं जिनमें दो छोटे बलाका दल उड़ते आ रहे थे। दीदी को मैंने ज्यादातर आँखों से ही मुसकराते देखा है। इस समय भी वह भुवन-मोहिनी नेत्र-मुस्कान से देख रही थीं और हठात मेरा हाथ अपने हाथों में लिया और सहलाते हुए बलाका दल के बारे में पूछती हैं-'बोल, कैसा लग रहा है ?'-और मैं भी बलाका दल को देखने लगता हूँ। और मैं बताने लगता हूँ-'दीदी, जैसे दो भौंहें उड़ रही हैं-' मुझे बोलता सुनकर दीदी मेरा हाथ अपने गाल से सटा लेती हैं ''-अरे वाह, यह तो कविता है।-'' कह नहीं सकता कि कैसे वह बलाका दल मुझमें विलीन होकर अभिव्यक्ति के स्तर पर दो भौंहें बन गया था। अनुभव तो मैंने कुछ भिन्न ही किया था लेकिन अभिव्यक्त तो बिल्कुल ही अलग हुआ। दीदी का वह वाक्य ''अरे वाह, यह तो कविता है'', आज साठ वर्षों के बाद भी कैसे टटके फूल सा रंग और गंध दे रहा है, जैसे आज सवेरे ही उसे तोड़कर लाया गया हो। स्वत्व की चट्टानों को फोड़कर अभिव्यक्ति का पहला जल-बिन्दु कैसे अनायास फूट पड़ा। इस प्रथम अभिव्यक्ति के पीछे कितना अकेलापन, उदासी भोगी। लेकिन क्या मैं तब जानता था कि इतना सब कुछ जो अव्यक्त रूप से मुझमें सिरज रहा है उसका पहला बिन्दु दो भौंहें होगा ? वस्तुतः हम प्रयुक्त होते हैं—सृजन के स्तर पर भी और अभिव्यक्ति या लेखन के स्तर पर भी। वाद्य न तो राग है, न वादक। परन्तु ये ऐसी प्रति अनिवार्यताएँ हैं कि बिना इसके संगीत सम्पन्न ही नहीं हो सकता। सप्तक का पहला स्वर ''सा'' मुझमें दो भौंहें बनकर अभिव्यक्त हुआ तो मेरे वाद्य की वाद्यता आकंठ निनादित हो उठी। दीदी के हाथ जैसे मेरे हाथ को कुछ सौंप रहे थे, शायद कविता। और दीदी अपने नेत्रों की तन्मयता से मुझे अपने में लीन किये ले रही थीं जैसे मैं एकमात्र सुख हूँ, काव्य-सुख।

सामान्यतः तो कोई रातों-रात वयःप्राप्त नहीं हो जाता लेकिन कई बार हो भी जाता है। आज भी जब मैं साठ वर्ष पूर्व की वह सन्ध्या याद करता हूँ तो स्तब्ध रह जाता हूँ। उस दिन वह जितनी भयावह थी और आज स्मृति में भी यथावत त्रास देती है। तब मैं मात्र दस वर्ष का था। उस दिन भी लगा था कि जैसे मेरे स्वत्व के तने और छाल को फोड़कर अवांछित कल्ले ही कल्ले फूट आये हैं और मैं ऐंठा पड़ रहा हूँ। निकट से मृत्यु को देखने का पहला अवसर था, कहना चाहिए साक्षात जैसा। गोबर लिपी भूमि पर लिटायी गयी दीदी और उनको घेरकर आर्त

तथा चीत्कार करती पारिवारिकता मुझे जड़ बना रही थी। प्राचीन गुफाओं के आदिम भित्तिचित्रों सी दीदी की स्मशान-यात्रा आज भी मुझमें उत्कीर्णित है। नागेश्वर के जलकुंड से बाहर आती धारा में उन्हें स्नान करवाया गया, कैसे उन्हें उठाकर चिता पर रखा गया, जीजाजी ने मुखाग्नि दी—किसी दिन भी तो भूलना न हो सका। अनासक्त पिता को ऐसे विह्वलभाव से रोता देखकर सभी रो रहे थे। परन्तु सच तो यह है कि उस क्षण मुझमें कोई प्रतिक्रिया नहीं थी। यदि उस दिन मुझमें से भी रोना फूट पड़ता तो यह प्रसंग न जाने कब का विगत की एक घटना बन जाता, लेकिन ऐसा लगता है कि मुझमें तब से शाश्वत इस प्रसंग की आवृत्ति दर आवृत्ति होती  ही चली आ रही है। बल्कि मुझमें यह प्रतिजीवन बनकर समाहित है। जिस प्रकार मैं अपने पर से न यह देह, न जीवन, कुछ भी नहीं उतार सकता उसी प्रकार यह प्रसंग भी मेरे होने की अनिवार्यता जैसा है। न रो पाने के कारण मुझे शायद स्वयं पर ही लज्जा आ रही थी तभी तो इस विषमता को छुपाने के लिए एकान्त में जाकर बैठ गया था। वहाँ से चिता का तिड़तिड़ाना साफ सुनायी दे रहा था। मुझे यह सोचकर ही उलझन हो रही थी कि मृत्यु के बाद जलना भी पड़ता है। जलना, वह भी ऐसा और इतना जलना, असह्य लग रहा था। निश्चित ही दीदी को भी असह्य लग रहा होगा। लोग क्यों नहीं इसे समझते? शायद जीवन में महत्वपूर्ण बातें इन्द्रियातीत होती हैं! पीपल में बाँधा गया घट, दीपक, अशौच की स्थिति, मृतात्मा के लिए निकाला गया अन्न-भाग और फिर मुंडन—ये सारी चीजें मुझे बाध्य कर रही थीं कि मैं अपने सारे अंग समेट कर हमेशा-हमेशा के लिए कहीं अनाम अज्ञात में चला जाऊँ जहाँ कोई न हो, लेकिन कोई से मेरा तात्पर्य ? दीदी के पास पहुँच जाने की आकुलता मुझे कितनी विवश किये दे रही थी; और समय था कि बूँद-बूँद रिसते हुए लगातार काल बनता जा रहा था। कोई भी बीतना निरपेक्ष नहीं होता। दीदी के सन्दर्भ में भी समय का बीतना लगातार दूरी बनता जा रहा था। दीदी अब कभी भी अपने होने के अन्तिम बिन्दु के बाहर पैर नहीं रख सकतीं और हम उस मृत्यु-द्वार को खोलकर दीदी के पास नहीं जा सकते, जबकि हमने उन्हें जाते देखा है। एक संबंध था जो अब कभी भी पुनः "है" नहीं बन सकता जबकि वह मुझमें आज भी "था" नहीं बन सका। दीदी की बीमारी के अवसर पर यह जो थोड़ी आत्मीयता, पारिवारिकता क्रमशः घिर आयी थी उसे समेटा जा रहा था। सामान से लेकर चेहरों तक पर लोगों का जाना उनके जाने के पहले ही आगे जाता दिख रहा था। अपने कमरे की खिड़की से सामने के मैदान में जाते हुए लोगों को देखना ज्यादा दुःखदायी लग रहा था। ये लोग शायद कभी नहीं जान पाएँगे कि जो कुछ भी पीछे छूट जाता है वह कितना टूटा काँटा हो जाता है।

अब मैं हमेशा इसी प्रकार खिड़की में खड़ा जीवन भर पश्चिम आकाश के सँझातेपन में दो बलाका-दल देखूँगा पर भौंहों के रूप में नहीं बल्कि कविता की तरह, जो प्रतिसाँझ उड़ते हुए मुझ तक आएगी। संभव है यही दीदी का आना बने।

क्या सच ही हम अपने अन्तर की अतल गहराइयों को जान पाते हैं? उन गहराइयों में जो दबा-मुँदा होता है वह सब हममें से ही होकर तो गुजरा था, तब भला हमें उस सबका पता क्यों नहीं होता? जिन्हें हम जान रहे होते हैं वे तो बड़े निरीह अनुभव या प्रसंग होते हैं लेकिन क्या कभी उन अँधेरी गहराइयों में झाँककर हम देखते हैं जहाँ कभी अभिव्यक्ति का प्रकाश नहीं पहुँच सकेगा ? वस्तुत: अनुभवों के ये ऐसे भ्रूण होंगे जो निषेध के शिकार हो गये। किसी मुख को लालसा से देखना चाहा होगा पर किसी निषेध के कारण अधूरा ही देख पाये होंगे। वही अधूरा देखना, प्रतीक्षा करता तल डूबी समुद्री वनस्पति सा लहरा रहा होगा। किसी को छूने की लालसा कैसी बुझी रह गयी होगी। अपने नेत्रों को हाथ बना हमने उस देहयष्टि को भोगने के स्तर तक छुआ भी होगा पर वे लालसा में उठे हाथ, देह की आसवता में डूबे नेत्र क्या किसी दिन हम किसी को दिखा सकते हैं?

अनुभव न देश देखता है, न काल; न स्थान देखता है, न संबंध वह तो प्राकृतिक तात्विकता की भाँति बस होना जानता है। वह तो एक निपात की भाँति केवल घटित होना जानता है। वह न तो सांसारिकता है, न किसी प्रकार का निषेध। नदी की कगार पर गढ़ी जैसे छोटे से किले की फसील पर बैठा हुआ मैं जो सोच रहा हूँ उसे किसी भी दिन क्या कह पाऊँगा? अभी तक मैं स्त्री को कुछ संबंधों के माध्यम से ही जानता था। लेकिन गत दिनों में जैसा जानने दिया जा रहा हूँ उसका सामना क्या मैं कर सकता हूँ? जब वह दबे पाँव आकर बड़ी सी लैम्प कमरे में रख रही होती तब शुरू-शुरू में कुछ भी नहीं होता था। बस, लैम्प लेकर आना हुआ और फिर लौट जाना हुआ। परन्तु कब और कैसे लैम्प के प्रकाश में उसके उठते-गिरते सीने को देखकर लगा कि जैसे यह चाहा जा रहा है कि देखा जाए, पर क्या? यदि यह बिम्ब सही है, तो गिरना तो सिर्फ पहली सीढ़ी पर ही करना होता है, बाकी गिरने का काम तो सीढ़ियाँ स्वयं कर लेती हैं। तकिया ठीक करते हाथ का स्पर्श जो पहले अनायास लगा होगा, कैसे वह उपरान्त सायास बना। दूध के लिए उठा मेरा हाथ कैसे उसके सीने से छू गया और वह ''धत'' कहकर जाते हुए अपने को सौंप गयी। धीरे-धीरे लालसा होने लगी कि वह कमरे में उपस्थित ही नहीं रहे बल्कि वह अपने को अधिक जानने दे। लेकिन कैसे? क्या मुझसे अधिक वह अपने को जानने नहीं देना चाह रही थी? परन्तु मेरी तरह नहीं। वह बिल्लियों की तरह निःशब्द चलते हुए ही अभिव्यक्त होने के प्रति सतर्क थी। स्त्री प्रकृत्या चौकन्नी होती है। सुई में तागा कैसे सटीक डाल लेती हैं उसी तरह किसमें कब और कैसे तागा डाला जाए इसके लिए स्त्री को कोई किताब पढ़ने की कभी आवश्यकता नहीं पड़ती। किताबों से तो पुरुष सीखता है जबकि वस्तुतः स्त्री सीखती नहीं सिखाती है। वह भी मुझे सिखा रही थी। अगर मैं उसके प्रति ज्यादती न कर रहा होऊँ तो कहना चाहूँगा, खेल रही थी। वह अपनी देह के माध्यम से कैसे क्रमशः मेरी अँगुलियों को क्रियापद सिखा रही थी, जिस प्रकार वाद्य का बजाना सीखना पड़ता है। प्रायः कमरे में उसके उपस्थित रहने पर माथे पर पसीना आ जाता या भय लगने लगता कि यह सब उचित नहीं है और अगर

मेरे काका या उसकी माँ, जो कि हमारी महाराजिन थी, ने देख लिया तो .......? पर जिस आयु में पुरुष अभी किशोर जैसा ही होता है, स्त्री उस वय:संधि पर दोनों ओर देखती आश्वस्त खड़ी होती है। फिर भी मुझे प्राय: उलझन होने लगती लेकिन वह अपनी आँखों से बोलकर मुझे कई ऐसे वाक्य दे जाती जिन्हें पढ़ पाना ही मुश्किल होता, तब समझना तो दूर की बात थी। संभवत: हम समान आयु के ही रहे होंगे या शायद है वह दो-एक बरस बड़ी भी हो सकती थी। जो हो, वह एक सुगंधित स्तबक सी अपने को मुझमें सजाकर या रख कर चली जाती। रात को दूध का गिलास रख कर जब वह कुछ देर बाद मुझे ओढ़ाने के लिए लौटती तब वह जान रही होती कि मैं आँखें मूँदे उसकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मैंने ओढ़ाते हुए बढ़े उसके हाथों को छुआ लाख होगा परन्तु किसी दिन पकड़ा नहीं होगा। मुझे सीने तक ढँकते हुए जब वह काफी कुछ निकट हुई होती तब हल्के से उसकी साँस की छुअन मुँह पर अनुभव की होगी पर इस सबका कुछ अतिरिक्त अर्थ भी है, अभी मेरे लिए वह अज्ञात था। अभी भी मेरे लिए यह सब क्रीड़ा या कौतूहल ही था। ऐसी क्रीड़ा, जो स्वाद दे रही है। गर्मियों में ठण्डे जल की लकीर आप में उतरती कैसी मीठी और ठण्डी लगती है, बस ऐसी ही ये क्रीड़ाएँ लगती थीं। धरमपुरी में मेरे जिस अकेलेपन में नर्मदा प्रवाहित होती रहती थी वही बदनावर में एक मानवीय नदी बनकर मुझे घेरे हुए थी। बड़ी नदियाँ प्राय: स्थानों को नहीं घेरतीं परन्तु छोटी नदियाँ तो ऐसे घेरती हैं कि उनके वलयों में स्थान बँध जाता है। मनुहार करना कोई छोटी नदियों से सीखे। गाँव के भीतर तक कैसे नि:संकोच भाव से आ जाएँगी। बड़ी ही बालिका-वधु होती हैं—स्वरूप और स्वभाव दोनों में। एक प्रकार का अल्हड़पन जो बड़ी नदियों में नहीं होता। बड़ी नदियों में स्वामिनी भाव होता है जबकि छोटी नदियों में कामिनी। वह भी तो किसी न किसी काम से या बहाने से उपस्थित हो जाती है। काम न होने पर परदे में चुन्नटें डालते खड़ी रहेगी जैसे उसे बुलाया गया हो और प्रतीक्षा कर रही है। आँखें, विशेषकर स्त्री की आँखें कितना अधिक बोलती हैं यह उनके मौन को देखकर ही समझा जा सकता है। पुरुष की आँखें तो केवल देखती हैं परन्तु स्त्री की आँखें तो परिरम्भण करती हैं। मैं अपने को पढ़ने में एकाग्र करने की जैसे ही चेष्टा करता हूँ कि वह मुझे नगण्य बनाती लौट जाती है। मैं भूगोल, इतिहास या कोई सी भी किताब पढ़ना चाहता हूँ परन्तु जब हर किताब वह बन गयी हो तो खाक पढ़ेगा कोई? मैं बिल्कुल भी स्पष्ट नहीं हूँ कि आज तक किसी भी स्त्री या संबंध को लेकर मैं कभी इतना नहीं गड़बड़ाया हूँगा या इस तरह नहीं अकुलाया हूँगा जैसा कि इसको लेकर था। दीदी का राग-भाव कैसा शारदीया धूप जैसा था। उनके सारे राग, रम्यता में

सघन वृक्ष की छाया का सा भाव था जबकि यह तो लालसा का ऐसा जलाशय जिसमें मैं ऊबचूब करते हुए पता नहीं चलता कि तैर रहा हूँ या डूब रहा हूँ। नागेश्वर के जलकुण्ड में एक श्रावणी सोमवार पर जब मैं लगभग डूब चुका था और जब ऊपर लाया गया तो वह सामाजिक संकोच के कारण दूर खड़ी होने पर भी अपनी चिन्ता वहीं से वैसे ही प्रेषित कर रही थी जैसे फूल अपनी गंध प्रेषित करते हैं। वह कैसे सबकी आँखें बचाकर अपनी आँखों में पीपल-पत्रों सी खिलखिला रही थी, पर मौन। वह शायद अपने लिए और बहुत हुआ तो मेरे लिए ही अभिव्यक्त होना चाहती रही होगी।

ऐसे न जाने कितने राग-प्रकरण तोरण-बंदनवार मेरे बिदा होते कैशोर्य के द्वार पर टँगे होते। पता नहीं क्या परिणित होती, या नहीं होती लेकिन तभी आगे की पढ़ाई के लिए मुझे बुआ के घर, नरसिंहगढ़ के लिए चल देना पड़ता है। हालाँकि बुआ तो नहीं थीं परन्तु फुफेरे भाई लोग थे। शायद दिन चढ़ने लगा था। बदनावर के सारे परिवेश को छोड़कर निश्चित ही आर्तता के साथ वहाँ से चलना पड़ा। वह दो दिन पूर्व से ही पास के गाँव अपने मामा के यहाँ चली गयी थी। आश्वस्त तो नहीं हूँ पर लगता है कि वह जाना सायास था। आज इतने वर्षों बाद भी मेरे स्वत्व के अतल अँधेरों में वह आज भी कभी लैम्प लिये तो कभी दूध का गिलास थामे चल रही है। व्यक्ति के रूप में मैं भले ही कहीं पहुँच गया हूँगा लेकिन अपने स्वत्व के एकान्तों में वह मुझे परदा थामे देख रही है। कैसे वह लिखने जैसा चलना करते हुए सनातन आ रही है, जा रही है, परन्तु केवल मेरे लिए ही। जिस दिन भी अभिव्यक्त करना चाहूँगा जादू का यह मायालोक न केवल चूर-चूर हो जाएगा बल्कि अभिव्यक्त भी नहीं हो सकेगा और झुठला जाएगा। कोई अलभ्य गोपनता कभी अभिव्यक्त नहीं हो पाती। अभिव्यक्त कर दिये जाने पर शायद वैसा ही अपराध भाव घेरने लगे जैसे किसी स्त्री को उसके एकान्त में वस्त्र बदलते देख लिया हो। यदि हम ऐकान्तिकता की पवित्रता को बरकरार नहीं रख सकते तो उसे अपने में अनभिव्यक्त तो रहने ही दे सकते हैं। हम क्यों सब कुछ व्यक्त करना चाहते हैं? जिस दिन सब कुछ अभिव्यक्त कर दिया जाएगा उस दिन के बाद से

सारी अभिव्यक्तियाँ भाषाहीन हो जाएँगी। कभी वाचाहीन मुख की विवश कोशिश देखी है? नहीं, सृजन को स्वत्व की गहराइयों में रहने दिया जाना चाहिए। वस्तुत: भाषा व्यक्ति को चाहिए स्वत्व की भाषा तो मौन है, इसलिए सृजन अनभिव्यक्त सत्ता है। लेखन, सृजन का संलाप रूप है। इसलिए सृजन को नहीं बल्कि लेखन को भाषा, अभिव्यक्ति, श्रोता, देश और काल सभी कुछ चाहिए होता है।

शोण को पहला प्रपात बनते समय जैसा अनुभव होता होगा लगभग वैसा ही मुझे नरसिंहगढ़ पहुँच कर होने लगा। विगत का संरक्षण और सम्पन्नता को छोड़कर अनामता में कूदना पड़ रहा था। सर्वथा भिन्न परिस्थितियों और अपरिचित हवाओं के थपेड़ों में आरंभिक प्रवाह बने मेरे स्वत्व का जल बूँद-बूँद और फुहार बनकर दयनीय भाव से छितरा पड़ रहा था। इसके पूर्व जैसा भी परिवार था, भले ही टूटा-टूटा सा, पर उसे भी परिवार ही तो कहा जाएगा, कैसे दूर चला गया था। आधे दूध पिये बछड़े की आँखों में जैसी कातरता होती है कभी उसे देखा है? थन बनी माँ का आस्वाद उसकी थूँथ पर कैसा गंध देता है परन्तु गले की रस्सी है जो और किसी चीज से दूर नहीं ले जाती, केवल माँ और उसके दूध के आस्वाद से। प्रत्येक घर-परिवार की यह कैसी संकीर्णता और मानसिकता होती है कि अपनी समरसता में वह किसी अन्य स्वर को समाहित तो नहीं ही होने देती साथ ही उस पृथकता को यथावत् बनाये रखती है। परिवारों में वस्तुएँ समरस होती रहती हैं परन्तु बाहरी व्यक्ति नहीं। निश्चित ही फुफेरे भाइयों के इस घर-परिवार में मेरी उपस्थिति की हैसियत नहीं थी और यदि थी भी तो बहुत काँख-कूँखकर ही। घरों में जैसे फालतू चीजें एक जगह डाल दी जाती हैं, आप भी कहीं डल जाइए। इस दुमंजिले मकान के पीछे वाले कमरे में मुझे प्रस्थापित होना था। दीवार में बनी एक खुली अलमारी, एक फोल्डिंग खाट और एक दीवार में खिड़की के नाम पर एक गोल मोखा, जिसमें से हवा भी कभी कभार आ जाती थी। मोखे से आँखें सटा लेने पर पड़ौस के कच्चे घरों की खपरैलों का थोड़ा सा सिलसिला दिखायी देता जिस पर प्रायः बिल्लियाँ या तो धूप सेकती होतीं या कहीं से दूध खाकर जीभ से मुँह साफ करती बैठी होतीं।

गत वर्षों ने मुझे यह स्पष्ट कर दिया था कि अपनी पारिवारिकता के बाहर अन्यत्र आपकी स्थिति उस दाने की सी होती है जो बाकी की दाल से भिन्न होता है और एक अँगुली कैसे सटीक तरीके से आपको बिलगा जाती है। कमरे का वह कोना कम से कम मुझे अपना कमरा जैसा लगे इसके लिए दो ओर टाट लटका कर थोड़ी निश्चितता लगी कि इतना मेरा कमरा है और इतने में मैं हो सकता हूँ।

वैसे घर-संसार और होता भी क्या और कितना है? यहाँ ऊपर अच्छाई यह थी कि सीढ़ी पर खड़े होकर कस्बे को देख सकता था, कहना चाहिए कि बाँच सकता था। वस्तुतः कस्बा क्या था, टाई की नॉट था, बहुत खूबसूरत और चुस्त-दुरस्त। सामने की पहाड़ी पर ऊपर तक चले गये पक्के मकान वर्षाकालीन या जाड़ों की धूप में अविश्वसनीय रूप से अप्रतिम खिले-खिले लगते, जैसे वास्तुकला की किसी आधिकारिक किताब से उद्धृत किये गये हों। सवेरे की हवाओं में किले की बुर्जी पर रियासत का झंडा आकाश के परिप्रेक्ष्य में राजकीय औपचारिकता के साथ लहराता लोगों को सूचित करता होता कि हिज-हाइनेस राजधानी में ही हैं। वस्तुतः पर्वत शृंखला और सघन वनराजि ने इस कस्बे को रमणीय तथा मोहक बना रखा था। कस्बा बहुत बड़ा तो नहीं था परन्तु जितना और जैसा था उसे सुघड़ ही कहा जाएगा। लाल मुरम की सड़कों से लेकर किले से सटी पत्थर की सड़क तक में खासा धुला-पुँछापन था। इस कस्बे का सबसे प्रमुख आकर्षण था पक्के घाटों वाला वह जलाशय, जो कि कस्बे के मध्य में था। जलाशय में एक छत्री जैसा विश्राम-स्थल था जहाँ एक पुल पर से होकर जाया जाता था। चूँकि यह पुल जलाशय के किनारे पुस्तकालय से सटा हुआ था इसलिए लोग इस विश्राम-स्थल पर बैठ कर किताबें पढ़ते दिख जाते थे। इस पुस्तकालय की खिड़कियों के ऐन नीचे जलाशय का जल टकराता रहता और आँधी-पानी के दिनों में लगता जैसे आप जहाज पर सवार हों। वस्तुतः यहाँ किताबों के पन्ने पलटना ही नहीं आया बल्कि इनके माध्यम से दुनिया के भूगोल, इतिहास, साहित्य सभी से आरंभिक जानकारी हुई। दुनिया इन किताबों के माध्यम से कैसी रंगीन गुब्बारे सी फैलती लगी। कविता, कहानी उपन्यास आकर्षित करने लगे। बदनावर के दिनों में एक दिन अखबार से जिस इटली, जिस मुसोलिनी के द्वारा अबीसीनिया पर आक्रमण की आरंभिक जानकारी मिली थी उसका अर्थ यहाँ आकर समझ में आने लगा। जर्मनी के एडाल्फ हिटलर की जीवनी ''मीनकैम्फ'' में अजीब आकर्षण था। अज्ञात में वह सबका नायक जैसा बन गया था। अब तक मेरे लिए जो दुनिया राबिन्सन क्रूसो, टारजन, अलादीन का चिराग या समुद्री लुटेरों-डाकुओं के साहसिक कारनामों तक ही सीमित थी, उसमें अब सेक्सटन ब्लेक की जासूसी कहानियाँ जुड़ने लगी थीं, तो साथ ही प्रसिद्ध उपन्यासों के संक्षिप्त भी मोहने लगे थे। विभिन्न यात्रा-वृत्तान्तों के माध्यम से अमेजन के जंगलों से लेकर मेक्सीको, केलीफोर्निया तो होते ही थे परन्तु सबसे ज्यादा साइबेरिया की बर्फीली उजाड़ दूरियाँ कैसी जादू भरी लगतीं। उत्तरी ध्रुव के एस्कीमो लोगों से लेकर दक्षिणी ध्रुव के पेंगुइन पक्षियों तक पहुँच जाने को मन अकुलाने लगता। पेंगुइनों का राजसी

चलना देखकर नेपोलियन का पीछे हाथ बाँधकर चलना याद आता। ऐसा लगने लगा कि मैं किताबों पर विश्वास कर सकता हूँ। कल तक जिन दृश्यों, बातों को सिर्फ अच्छा लगना ही समझता था वे सब किताबें अब मेरे भीतर प्रतिध्वनियाँ पैदा कर रही थीं कि इन्द्रियों के माध्यम से हम जो भी देखते, सुनते या छूते हैं वे हमारे भीतर एक प्रतिसंसार निर्मित करते हैं। बाहर हो रहे सूर्यास्त के साथ जब हम अपने भीतर के सूर्यास्त को रचते हैं, वही कविता है। जब हम अपने भीतर के फूल को बाहर के फूल के साथ भाषा की टहनी लगाकर रख देते हैं तब प्रकृति द्वारा सृजित फूल भाषा में लिखित फूल हो जाता है। इसे ही शायद कविता या साहित्य कहते हैं।

हनुमानगढ़ी की ऊँची पर्वत चोटी पर खड़े सूर्यास्त देख रहा था। सूर्यास्त, उसके रंग मुझे आकाश में आने का आमंत्रण देते लगे। हवाएँ, सांध्य-पाखी सब मुझे ऐसे लगते जैसे ये मेरी कविता की पंक्तियाँ थीं जो एक-एक करके उड़ी जा रही हैं। शायद उस दिन पहली बार लगा कि वर्षों पूर्व दीदी के सामने जो कविता अनायास हुई थी अब वह उतनी अपरिचित नहीं है। मैं चाहूँ तो कविता को छू सकता हूँ। हवाएँ जब तक मुझे छू रही हैं, हवाएँ हैं लेकिन जैसे ही मैं हवाओं को छूने लगूँगा वे कविता बन जाएँगी। आकाश का सूर्यास्त निश्चित ही मौन सम्पन्न हो रहा है लेकिन यदि इस मौन को भाषा दे दूँ तो यह सूर्यास्त कविता हो जाएगा। आज शायद पहली बार कविता को ऐसा उपस्थित देख रहा था। मतलब, सोच रहा था कि कविता किसे कहते हैं, क्या होती है। क्या किसी दिन मैं भी कविता कर सकूँगा? और अपनी फोल्डिंग खाट पर लालटेन के प्रकाश में बैठे हुए मैं उस सूर्यास्त को देखने में लीन था जिसे मैं हनुमानगढ़ी के आकाशों में डूबते छोड़ आया था। लेकिन मुझे बहुत निराशा हो रही थी कि कागज पर जो मैं लिखने का प्रयास कर रहा हूँ वह निहायत फूहड़ है। न शब्द, न भाषा कुछ भी तो वह नहीं कह पा रहे हैं जो मैं कहना चाह रहा हूँ। लेकिन मैं क्या कहना चाह रहा हूँ ? सूर्यास्त, सूर्यास्त है, हवा, हवा है। मात्र कह देने भर से ये कविता नहीं बनेंगे, तो फिर कैसे बनते हैं ? नहीं, मैं कुछ नहीं जानता और उस लिखे को चिंदी-चिंदी कर देता हूँ। कविता ऐसी नहीं होती, तब कैसी होती है? नहीं जानता कैसी होती है। सूर्यास्त को तो बताया जा सकता है परन्तु सूर्यास्त पर कविता को नहीं बताया जा सकता। और मुझे अपने से घोर असंतोष होने लगता है। उन चिंद्दियों को मोखे से बाहर उड़ा देता हूँ। वे चिंद्दियाँ उड़ते हुए तो नहीं देख सका लेकिन उनका उड़ जाना मेरा हाथ अनुभव करता रहा था। हवा अँगुलियों के बीच से गुजरते हुए अपने

ठण्डे स्पर्श से आश्वासन देती लग रही थीं कि धीरज रखो, कुछ भी जानना इतना आसान नहीं होता।

प्रतिदिन सरकारी डेयरी से दूध लेने के लिए काफी दूर जाना पड़ता है। पूरे रास्ते अमराइयाँ तथा दूसरे पेड़ों की सघनता के बीच से जाना बहुत अच्छा लगता है। कम से कम इतने समय मैं पूरी तरह अकेला हो सकता हूँ वर्ना तो एक न एक खटराग लगा रहता है। निर्जनता की सबसे अच्छी बात यह होती है कि सब अपनी पूर्णता के साथ अभिव्यक्त और उपस्थित हुए रहते हैं। वृक्ष केवल वृक्ष ही नहीं बल्कि अपने सारे पत्तों के साथ ऐसा खड़ा हुआ होता है जैसा कि किसी स्वत्ववान को खड़ा होना चाहिए। किसी निष्णात चित्रकार के क्लासिकी तैलचित्र सा सारा परिदृश्य आपके चारों ओर आर्ट-गैलरी में चित्र-प्रदर्शनी जैसा लगता। उस अकेली कमसिन सड़क पर मैं भी तो चित्र का ही एक भाग जैसा ही लग रहा हूँगा। केवल मैं, इस सारी ठहरी चित्रात्मकता में अकेला चलता हुआ बिन्दु होता हूँ। छोटी पुलिया भी, कैसे अपने आत्मविश्वासी स्वत्व के साथ आपकी ओर देख रही होती है। सड़क को अपने पर से गुजर जाने देने का प्रयोजन उसमें कितना मुखर होता। मुझे प्राय: हँसी आती कि अस्पताल जाती नर्स नाला फलाँगते समय कितनी दयनीय लगती। उस समय हवा में उठे उसके हाथ ऐसे लगते जैसे वह पैरों से नहीं बल्कि हाथों से नाला फलाँग रही है। वह अपनी सफेद बुर्राक नर्स की भूषा में जगह-जगह से छोटा-बड़ा अभिव्यक्त ज्यादा लगती। जेल और अस्पताल आमने सामने पड़ते थे। जेल का वह बड़ा सा फाटक प्राय: बंद रहता। कभी-कभार कुछ कैदी मुस्तैद सिपाहियों की निगरानी में फाटक से बाहर आते-जाते दिखते परन्तु जेल की ऊँची दीवार, बड़े से फाटक और तैनात सिपाहियों को देखकर भय तो लगता ही लेकिन उदास ज्यादा हो जाता हूँ। दूध लेने के लिए जाते समय जितनी निश्चिन्तता होती उतनी लौटते समय नहीं होती क्योंकि दो सेर दूध के भरे लोटे की किनार अँगुलियों में चुभ रही होती। हाथ बदलने से क्या हो जाता है? किनार की धार, धार ही होती है। एक बार चुभन शुरू हो जाने के बाद चुभन पहले से जल्द और ज्यादा धारदार हो जाती है। आप उस समय सिर्फ दर्द करती अँगुलियाँ हो जाते हैं। आप जाते समय जिस रामलला मंदिर के स्थापत्य को देखते हुए प्रसन्न हो रहे थे कि कैसे उसका श्वेत प्रतिबिम्ब पीछे के शांत जलाशय में धूप लिखा मुखर हो

आया है, वही लौटते में कहीं नहीं होता है क्योंकि उस समय आप दूध का लोटा थामे अँगुलियाँ—हो गये होते हैं। और जब रसोईघर में पहुँच भाभियों के सामने लोटा रखता हूँ जबकि कहना चाहिए अपने पर से उतारता हूँ, तो वे मेरी अँगुलियों के लाल कटाव को न देखकर लोटे के लबालब भरे होने को परख रही होती हैं। अँगुलियों पर से नहीं बल्कि स्वत्व पर से भी वह भारी लोटा उतारते हुए मुझे ऐसा ही लगता जैसा कि एटलस पर्वत को आकाश उतरते समय लगा होगा। और हरक्यूलिस की भाँति चालाक परिस्थितियाँ मुझे दूसरे ही दिन सवेरे फिर लोटा थमा देती हैं। और इस प्रकार मैं रोज आकाश उठाने के लिए मूर्ख एटलस की भाँति बाध्य होता हूँ।

प्रकृति न तो कृपण होती है और न ही पक्षपात करती है। यदि वह नदी, पहाड़, या वनराजि बनकर खड़ी या उपस्थित है तो वह सबके लिए है। यह आप पर निर्भर करता है कि आप उसे कितना ग्रहण करते हैं। वस्तुतः प्रकृति, कविता है और मनुष्य गद्य या कथा। प्रकृति को अपने होने के लिए किसी अन्य की उपस्थिति की अपेक्षा नहीं होती। वह स्वतः ही सम्पूर्ण है लेकिन मनुष्य नहीं। अपनी पूर्णता के लिए मनुष्य को अन्य की उपस्थिति ही नहीं सहभागिता भी चाहिए होती है। यह सहभागिता ही वह घटनात्मकता है जिसके बिना मनुष्य का अक्षांश-देशान्तर इस देश-काल में परिभाषित नहीं किया जा सकता। अपने देश-काल के साथ यह संबंध-भाव ही सारी लिखित-अलिखित घटनात्मकता या कथात्मकता को जन्म देते हैं। संबंध, वस्तुतः मनुष्य का भोग रूप है। व्यक्तियों और वस्तुओं के माध्यम से उसका यह भोगरूप प्रतिफलित होता है। शायद इसीलिएं प्रकृति में विशाल पर्वत, उत्कट नदियाँ, प्रशस्त रेगिस्तान आदि कोई पात्र या चरित्र नहीं हैं। इन सबकी उपस्थिति काव्य-बिम्बों की भाँति होती है और उपरान्त मौन घटनाहीनता में तिरोहित हो जाती है। चाहे वह नदी का समुद्र में विलीन होना हो, कविता ही होना है, कभी कथा नहीं। शताब्दियों से हवाएँ और अंधड़ सहारा के असीम बालू व्यक्तित्व को उलट-पुलट रहे हैं, सूर्य, धूप की भट्टी में सबको रोज तपा रहा होता है परन्तु रेगिस्तान है कि अपने पर से कविता का यह झुलसा वस्त्र नहीं उतारता। लेकिन इसके ठीक विपरीत मनुष्य है, वह अपने घर की दीवारों पर ही नहीं बल्कि देश और काल की दीवारों पर भी कीलें गाड़ कर वस्त्र, चित्र या और कुछ टाँगकर निश्चिन्त होना चाहता है। और यहीं से मनुष्य और प्रकृति में अन्तर या दूरी आरंभ हो जाती है। सूर्यास्त चित्र बनकर अपनी सारी गतिशीलता खोकर जड़ हो जाता है। चित्रवाला सूर्यास्त जड़ है लेकिन आकाश वाला नहीं। इसी प्रकार संबंधों को जब हम भोग बना लेते हैं तब वे जड़ हो जाते हैं। तब वे या तो सुख या दुःख देने लगते हैं। चूँकि सुख क्षणिक होता है, इन्द्रियगत होता है इसलिए इन्द्रिय-तृप्ति के बाद वही दुःख में परिणत हो जाता है। शायद हमारे चारों ओर के इस ताने-बाने को कथा या उपन्यास कहते हैं। वैसे उन दिनों ऐसा विश्लेषण करना भी संभव नहीं था, लेकिन प्रकृति से संलाप करना सीख रहा था।

वर्षा के दिनों में जब पहाड़ों पर तेज जल-प्रवाह नदियों जैसा बह रहा होता तब पारदर्शी जल में पसरी बैठी स्त्रियों सी चट्टानें कैसी अंग चुराती नहाती लगतीं। बहते जल में जो शोर होता वह इन्हीं स्त्रियों का होता। पता नहीं कहाँ पढ़ा था कि स्त्रियाँ अपने एकान्त में दुर्दान्त होती हैं। कई बार तेज प्रवाह में ऐसा लगता है कि इन चट्टानों से कहूँ कि ऐसा बेलौस खिलखिलाना छोड़ें नहीं तो बह जाएँगी। लेकिन न तो मैं कह ही पाता हूँ और न ही चट्टानें अपना अल्हड़ खिलखिलाना छोड़ती हैं। थोड़ी देर पहले वर्षा में पेड़ भीग उठे थे। उन्हीं पेड़ों के बीच से गुजरती हवाओं को भीगे पेड़ कैसे भिगाये दे रहे हैं कि हवा चौंक कर खुलेपन की ओर भागने लगती हैं। यहाँ चट्टानों ने एक प्राकृतिक कुण्ड जैसा बना रखा है। श्रावण मास में पिछले दिनों पुष्टिमार्गी वैष्णवों के वन-विहार अनुष्ठान में आया था। पूरे तामझाम और शास्त्रोक्त तरीके से भगवान का नौका-विहार सम्पन्न करवाया गया था। कुण्ड की छोटी-छोटी मछलियाँ कौंधते हुए तैरते, चट्टानों में छुपी पड़ रही थीं। निश्चित ही कुछ समय के लिए मनुष्य और उसकी उत्सवप्रियता ने प्रकृति को वन-शोभा या वन-श्री बना दिया था। मानवीय वातावरण की सुगंध वायुमंडल में भी गमक उठी थी। प्रवाह तो निश्चिंत भाव से प्रवाह बनकर प्रवाहित था लेकिन वृक्ष, जंगली फूल और घासें अवश्य सशंक भाव से यह मानवीय व्यापार देखते लग रहे थे। प्रायः यहाँ अकेले आने पर मैं भी अपने भीतर की किताब खोलकर पढ़ने, देखने लगता हूँ। मुझे अपने भीतर पन्नों का हवा में उड़ना सुनायी पड़ता। कब मैं अमेजन के किनारे पहुँच जाता पता ही नहीं चलता। दरियाई घोड़ों और विशाल मगरमच्छों से भरी अमेजन में अजीब चुम्बक होता कि मैं लाख चाहने पर भी वहाँ से उठ नहीं पाता। कोई सघन पेड़ जब बोलते हुए बड़ा सा हिलता तो लगता कि अभी टारजन कूदकर सामने आ खड़ा होगा, और ठंडा पसीना आ जाता। क्षितिज पर काले-काले उफनाते मेघ कैसे क्षितिज पर पैर रखकर धरती पर कूद पड़ने को होते। अपने घर-संसार में लौटकर जब मैं पढ़ने के लिए बैठता हूँ तो किताब, किताब न रहकर और सब कुछ हो जाती है। और तभी पास की कोतवाली से रात के नौ की गजर बजने लगती है।

एक लम्बी पतली मुरम की सड़क पर एक ताँगा। ताँगा उन दिनों सम्भ्रान्तता और सम्पन्नता का प्रतीक था। ताँगे में धवल भूषा में बैठी एक बालिका। प्रायः इस मुख को आते-जाते देखा है। स्कूल के पास वाली पहाड़ी से झरना जहाँ नीचे उतरता है वहाँ बड़ा ही सघन बाँसों का एक झुरमुट है और बाँसों का पीठा भी। इसके पास से हमारे स्कूल का रास्ता पड़ता है। पहले तो नहीं लेकिन कुछ दिनों के बाद थोड़ा प्रति-देखना शुरू होता है। इसके बाद मेरा देखना उसके जाते हुए ताँगे के साथ दूर तक घिसटता ही चला जाता है और जब ताँगा मोड़ लेकर अदृश्य हो जाता है तब उस मोड़ पर एक बिन्दु बनकर मेरा देखना ठिठका, वहीं बना रहता है। वह बिन्दु कभी मेरी और तो कभी उस मुड़े ताँगे को देख रहा होता है। मुझे ही नहीं शायद उसे भी यह प्रतीति होने लगी थी कि कोई उसे जाते हुए नित्य देखता है। और नित्य देखना, केवल देखना नहीं होता बल्कि अपने भीतर एक स्वाद को उतारना होता है। एक गंध का सुवासित जल बनकर आपको अभिषिक्त करना है। शुरू में जो पतले अधर थोड़े प्रकंपित होते थे अब वे पुष्ट गालों तक खिंचकर लगभग खिलखिलाती रेखा बनकर ऐसे लगते जैसे आदिम कालीन स्त्री-लिपि में लिखा गया एक वाक्य हो। उसका कुल-शील ताँगे का था, भला वह सड़क पर कैसे चलती और मैं अपने चलने के लिए ताँगा कहाँ से ला सकता था? कालान्तर में मालूम हुआ कि वह प्रायः क्लब जाती है। और जब एक शाम मुझे भी क्लब के बाहरी फाटक पर खड़े देखा तो सुनायी दे सकने वाली खिलखिलाहट के साथ वह ताँगे से कूदते हुए उतरी और जिस अप्रत्याशित ढंग से वह सामने आ खड़ी हुई उसमें अब जैसे मात्र इतना ही पूछना शेष रह गया था कि-तुम यहाँ कैसे? परन्तु उसने ऐसा कुछ नहीं कहा या पूछा। उसकी आँखों में जैसे एक वाक्य बार-बार आ-जा रहा था कि मैं जानती थी कि एक दिन तुम बहुत-कुछ इसी तरह मिलोगे। पुरुष प्रायः अपनी सामाजिकता को लेकर चीजें गड़बड़ाता रहता है लेकिन स्त्री को इस सबकी विशेष चिन्ता नहीं रहती। उसका यह स्वभाव शायद प्रकृत्या है। स्त्री मात्र को अपने से बाहर निकलकर कहीं अन्यत्र जाना होता है इसलिए विश्वास हो जाने पर वह अपरिचित से अपरिचित भूमि पर पैर धरने में संकोच नहीं करती।

आज मेरी स्मृति की तलहटियों में निश्चित ही वह सड़क, वह ताँगा और वह मुख विभिन्न प्रकरणों में दबा-मुँदा पड़ा होगा। कोई गोरा पैर अगर ऐसी स्त्री का हो जिसके लिए आपके मन में राग हो तो कैसा आलाप लेता लगता है। विशेष तो नहीं लेकिन दो-चार बार जरूर साथ टहले होंगे। क्लब के आगे जो मैदान विस्तृत

हो आया है उसमें जंगली हवाओं का कानों के पास बोलते हुए गुजरना आज तक जीवंत है। उड़े पड़ते अपने बालों को जब कभी वह झल्लाकर सहेज रही होती तब वह ऐसी ही लगती जैसे संगमरमर की मूर्ति अपने मूर्तिपन से थोड़ी देर के लिए बालों को ठीक करने के लिए बाहर आयी है। उसकी भूषा से अठखेलियाँ करती हवाओं से ईर्ष्या होने लगती कि वे उसे आद्यन्त छू रही हैं। निश्चित ही इतने वर्षों के बाद उसे याद ही कर सकता हूँ, पुकार तो नहीं सकता। जब वह पुकार की सीमा में हो सकती थी तब ऐसा कुछ नहीं होने दिया तब आज अपने अतल अँधेरे जलों से उसे बाहर लाकर क्या कह ही सकता हूँ। प्रत्येक क्षण का छोटा-छोटा बीतना जब वर्षों के विशाल फलक पर विस्तृत फैलना बन जाता है तब कैसी असुविधा होती है। हम इस विशाल विस्तृति के पार उन छोटे-छोटे क्षणों तक वापस पहुँच जाना चाहते हैं जहाँ मुरम की लंबी सुनसान सड़क पर एक ताँगा, धवल भूषा में उसमें बैठा एक मुख, कैसा लालसा जगाता, उस पर्वतीय झरने के पास से गुजर रहा होता है। पर कोई भी इस क्रम की अनिवार्यता को बदल नहीं सकता। कुछ याद नहीं कि किस बिन्दु पर जाकर हम अलग हुए और क्यों? वर्षाकालीन रात्रि के अँधेरों में जुगनू शायद इसी प्रकार ही तो चमकते हैं जैसे कि उसका स्मरण मुझमें कौंध-कौंध जाता है।

पता नहीं कैसे, आधी रात में मुझे लगा कि कोई मुझे जगा रहा है। मोखे से जो भी और जितना भी उजाला आ रहा था उसमें बहुत कुछ मोटा-मोटा सा देखना ही कर सकता था। टाट के परदों वाले मेरे घर-संसार में तो कोई नहीं था, तब मुझे कौन जगा रहा था? परदों के पार आहट लेने की कोशिश करता हूँ कि कौन हो सकता है, पर कहीं कोई आहट नहीं थी। गहरी नीरव निस्तब्धता थी। तभी मुझे कौंधता है कि मैं तो सपना देख रहा था—झरने में पैर डालकर बैठा हूँ और प्रवाह जैसे मेरे पैरों को बहा ले जाने पर तुला हो। मुझे अपने कानों के पास हवा का बोलना नहीं बल्कि कुछ ऐसा सुनायी दे रहा है, जैसे कोई कान के पास मुँह सटा फुसफुसा रहा है, लेकिन कौन? और इस कौन की तलाश में मैं ऊपर

देखता हूँ तो पहाड़ का शिखर दिखलायी देता है जहाँ कृष्णा रात में एक तारा अपनी समग्रता में सुलगा पड़ रहा था। तारों का वह ज्वाजल्य प्रकाश ही शिखर से उतरकर झरना बन रहा था जिसमें मैं पैर डाले बैठा था। और हठात जैसे स्वप्न में झकझोरते हुए किसी ने संकेत दिया कि मुझे लिखते क्यों नहीं? तो क्या कविता ने झकझोरा था? लेकिन स्वप्न यथार्थ कैसे हो सकता है? मुझे अपने कंधे पर अभी तक एक स्पर्श का बोध जैसा लग रहा था। होगा, और लालटेन जला शायद मैं अपनी कविता पहली बार लिख रहा था।

वैसे किले पर जाने के लिए एक सड़क भी है परन्तु वह काफी घूम कर जाती है। उस पर हिज-हाइनेस या उनके करीबी रिश्तेदारों की कारें ही आती-जाती हैं। आम जनता तो पहाड़ी बस्ती के बीच से पत्थरों वाला जो मार्ग है उसी से ऊपर आती-जाती है। सरकारी हाथी भी रोज इसी चढ़ाई वाले मार्ग से पानी पीने के लिए जलाशय तक लाये जाते हैं। मैं भी इसी मार्ग से ऊपर जा रहा था। सरकार के जन्मदिवस पर यहाँ की राजमाता एक दिन काव्य-पाठ का आयोजन करवाती थीं। वह बड़ी साहित्यानुरागी महिला थीं। कभी-कभार बाहर से भी कवि बुलवाये जाते थे। आज मैं ठीक से नहीं कह सकता कि इस आयोजन में आमंत्रण पाकर जा रहा था या स्वतः। महल के एक बड़े से हॉल में एक ऊँचे से मंच पर सोने की नक्काशीदार कुर्सी रखी थी। मंच के सामने एक ओर गद्दे, गाव-तकियों के सहारे कुछ लोग बैठे थे। इनके सामने की पंक्ति में कुर्सियों पर छोटे-बड़े हाकिम थे। इनके अलावा जो थोड़े से लोग थे वे नीचे कालीनों पर या तो बैठे हुए थे या फिर खड़े थे। सोने की नक्काशीदार कुर्सी थोड़ी कोने में थी और पीछे की ओर एक बड़ा सा झीना परदा झूल रहा था। शायद राजपरिवार की महिलाएँ तथा राजमाता के बैठने का यहीं प्रबंध था। प्रतीक्षा ज्यादा नहीं करनी पड़ी। सरकार और राजपरिवार के आने पर सारे लोग खड़े हो गये। सरकार के बैठते ही लोग भी यथास्थान बैठने लगे। गाव-तकियों के सहारे बैठे जो आठ-दस व्यक्ति थे, वे ही काव्य-पाठ करने वाले थे। इस गोष्ठी का संचालन हमारे हाईस्कूल के हिन्दी के अध्यापक कर रहे थे। उनसे ही पता चला कि साफे और दुपट्टे में जो महाशय बैठे थे वे (शायद) मुंशी अजमेरी के शिष्य या पुत्र थे, बाकी के कवि स्थानीय ही थे। प्रत्येक कवि उठकर सरकार के सामने पहुँचकर अभिवादन करता और फिर अपनी जगह लौटकर काव्य-पाठ करता। मैं इस सारे दृश्य को मुग्ध भाव से देख रहा था। रंगीन झाड़फानूसों से हॉल लकदका रहा था। वातावरण में एक प्रकार की सुगंध भी थी। प्रत्येक कवि को क़ाव्य-पाठ की समाप्ति पर एक तश्त में नारियल और इक्कावन रुपये दिये जाते। न जाने कैसे मेरी अन्तश्चेतना में आ रहा था कि यदि मैं भी काव्य-पाठ करता तो शायद कइयों से कहीं ज्यादा अच्छा सुनाता। मुश्किल से दो चार कवियों ने काव्य-पाठ किया होगा कि सहसा मेरा नाम पुकारा

गया। मैं हतप्रभ रह गया। ठीक है चार-छह कविताएँ जरूर लिखी हैं पर इतने से क्या मैं कवि हो गया? और वह भी ऐसा कि इस तरह के आयोजन में काव्यपाठ करूँ? जबकि आज के पहले जानता भी नहीं था कि काव्य-पाठ जैसी भी कोई चीज होती है। लेकिन मेरे कविता लिखने के बारे में सिवाय दो-एक सहपाठियों के और कौन जानता है? कहीं शंकरसिंह ने तो यह बात नहीं फैलायी? शंकरसिंह मेरा सहपाठी था और वह सरकार का कुछ रिश्तेदार भी था। उसी से राजमाता के द्वारा प्रतिवर्ष आयोजित होने वाले इस कार्यक्रम के बारे में मुझे मालूम था। शायद उसी ने मुझे आज बुलवाया होगा और उसी के कारण काव्य-पाठ के लिए मेरा नाम पुकारा गया होगा। तभी मुझे एक ओर मुस्कराता शंकरसिंह दिख गया जो मुझे आँखों से उत्साहित कर रहा था। मैं नहीं जानता कि किस नीमबेहोशी की मानसिकता के साथ पहले अभिवादन करने पहुँचा और तब कवियों वाले मंच पर काव्य-पाठ के लिए उद्यत हुआ। सच तो यह था कि मैं बुरी तरह पसीने से लथपथ हो रहा था। संभव है मेरे चेहरे पर हवाइयाँ भी उड़ रही हों। लेकिन शंकरसिंह जिस प्रकार मुझे देख रहा था उससे मुझे ढाढ़स बँधने लगा। पता नहीं मेरी कविता पर या मेरे काव्य-पाठ के ढंग पर अच्छी खासी तालियाँ बजीं। कब मैंने कविता शुरू की और कब समाप्त की, मुझे नहीं पता चला। मुझे जो तालियाँ मिली थीं उसका कारण मैं समझ रहा था क्योंकि मैं सबसे छोटा था। लेकिन अभी मैंने कविता समाप्त की ही थी और शायद मैं भी प्रतीक्षा करता कि एक तश्त में नारियल और इक्कावन रुपये मिलेंगे, लेकिन तभी एक अर्दली मेरे पास आया और बोला कि राजमाता ने बुलाया है। मैं आद्यन्त काँप उठा कि पता नहीं मुझसे क्या बेअदबी हो गयी। उस बड़े से परदे के सामने मुझे ले जाकर खड़ा कर दिया गया। राजमाता ने थोड़ा परदा हटाया और हँसते हुए शाबाशी दी और आशीर्वाद भी कि मैं और कविताएँ लिखूँ। मेरा नाम पूछा और जब केवल नाम सुना तो पूछा कि मेरा कोई काव्य-नाम नहीं है? मेरे इन्कार करने पर उन्होंने मुझे ''नरेश'' काव्य-नाम दिया। और अपने हाथों से नारियल तथा इक्कावन रुपये दिये। मेरी खुशी का वारापार नहीं था। कहाँ तो मैं पसीने-पसीने हो रहा था और अब लगा जैसे मेरे डैने निकल आये हैं और सुदूर आकाशों में खूब गहरे उड़ सकता हूँ। एक कोने में फिर शंकरसिंह दिख गया। उसकी आँखें खुशी से चमक रही थीं और मेरी आँखों में उसके लिए आभार था।

स्कूल और क्लास में जब टीचर और लड़के मुझे घूर कर देखते तो कारण समझ में आ जाता। उस दिन के काव्य-पाठ की खबर पूरे कस्बे में फैल चुकी थी। लोगों के व्यवहार के कारण मैं थोड़ा अलग जैसा हो गया था। धीरे-धीरे लोग मुझे मेरे नये काव्य-नाम ''नरेश'' से पुकारने भी लगे थे। कुछ गुरुजनों ने मुझे परामर्श भी दिया कि मुझे ज्यादा से ज्यादा कविता, साहित्य आदि की किताबें पढ़नी चाहिए। सबसे पहले मैथिलीशरण गुप्त और प्रेमचंद पढ़ने की सलाह दी। उन दिनों ''भारत-भारती'' का खूब नाम था। पुस्तकालय में जितनी भी गुप्तजी की रचनाएँ थीं उन्हें पढ़ा। प्रेमचन्द की कहानियाँ बड़ी सजीव लगतीं। धीरे-धीरे लगने लगा कि मेरी चेतना का दायरा विस्तृत होता जा रहा है। खासकर जब स्वामी सत्यदेव परिव्राजक के यात्रा-वर्णन ''अमेरिका-भ्रमण'' या ''जर्मन जागरण का बिगुल'' पढ़ा तो घंटों केलीफोर्निया के आलू के खेतों, वहाँ की नदियों-जंगलों में मन रमा रहा। जर्मनी तो एकदम मूर्त हो उठा। चूँकि इसी अवधि में हिटलर की ''मीन केम्फ'' भी पढ़ी तो रोमांच हो आया। मन करता कि मैं भी केलीफोर्निया या जर्मनी पहुँच जाऊँ। धीरे-धीरे अंग्रेजी के अभ्यास के कारण लंदन, पेरिस सब पास आते गये। उन दिनों सबसे दिलचस्प उपन्यासनुमा यात्रा-वर्णन ''द वर्ल्ड अराउन्ड इन एटी डेज'' ने तो मेरे भीतर के संसार को जैसे झकझोर डाला। उसे पढ़ते हुए लगता कि जैसे मैं स्वयं उस यात्रा में शामिल हूँ। पूरी दुनिया कितनी मोहक है इसे जानने की इच्छा प्रबल होती गयी। चार्ल्स डिकेन्स के उपन्यासों के सारांश स्तब्ध कर जाते। कुल मिलाकर उपन्यास तो पश्चिम के ही आकर्षक लगते लेकिन कविता, अपनी ही भाषा की संबोधित होती।

पता नहीं क्यों नरसिंहगढ़ बसाहट की दृष्टि से मुझे उपन्यास जैसा लगता। वहाँ का सारा परिदृश्य, कविता पढ़ते हुए या तो देश-काल का बोध रहता ही नहीं या रहता तो सब कुछ सिमट कर इस कस्बे में आ जाता। आज ऐसा लगता है कि कविता से कहीं ज्यादा औपन्यासिक मानसिकता की आरंभिक निर्मिति नरसिंहगढ़ में ही हुई। गद्य या उपन्यास लिखना अभी नहीं जानता था परन्तु उपन्यास में पढ़े पात्र या स्थान सब मुझे ऐसे लगते जैसे मैं इन सबको जानता है। कौन सी ऐसी चीज थी, चाहे वे सड़कें रही हों या बाजार, गली-मुहल्ले, दुकानदार या आम आदमी, लोगों के घर, वैष्णव मंदिर—ऐसी न जाने क्या-क्या अपनी ओर देखते

लगते जैसे पूछ रहे हों कि क्या किसी दिन तुम हमें नहीं लिखोगे? छोटी से छोटी चीज को देखकर कैसा उत्साह लगता। श्राद्धपक्ष के दिनों के भोज, रेशमी सोला-मुकुटा पहने पत्रावली के सामने बैठे लोग, श्रावणी के दिन यज्ञोपवीत बदलने का अनुष्ठान, किसी के आँगन में फूला हरसिंगार, दाल की गंध-गरज कि चारों ओर जैसे उपन्यास के पृष्ठ उड़ रहे हैं। मुझे तो इन्हें केवल समेट कर एकत्र कर लेना है। ये सब तो जीवन द्वारा लोगों के माध्यम से पहले ही लिखे जा रहे हैं। जीवन कैसा और कितना प्रभूत मात्रा में बह रहा है। आज निश्चित ही ऐसा कहा जा सकता है कि उस आयु में इस आस्वाद को अपने भीतर उतारा ही जा सकता था। इस सबको लिखना तब संभव न था। अनुभव हो रहा था, यही क्या कम था। जैसे-जैसे किताबों का संपर्क बढ़ता गया, वैसे-वैसे अपने भीतर बेचैनी बढ़ती गयी। सच तो यह था कि मैं अपने से बाहर निकल कर कब और कुछ हो रहा हूँ यह मैं भी नहीं समझ पा रहा था। पूरे दिन भर का देखा छोटा से छोटा व्यापार भी मेरे अन्तस में समाया हुआ होता। व्यक्ति या स्थान वैसे तो अगले दिन भी पिछले दिन जैसे ही होते हैं, परन्तु नहीं, रोज ही थोड़ा नहीं, बहुत-कुछ बदल जाया करता है। अगर हम इस बदलाव को देख सकना सीख जाएँ तो जीवन काफी दिलचस्प हो जाता है। कई बार ऐसा नहीं लगता है कि इस जीवन को जिस प्रकार बोझ समझकर चल रहे होते हैं, वहीं हमारे जैसा रोज-रोज का जीवन जीने वाली चीटिंयों की कतार, शिकायतहीन कैसी कतार में दीवार से सटी-सटी निर्व्याज आ-जा रही हैं। यह तो गनीमत हुई कि आये दिन के उत्सव-त्यौहार आविष्कृत कर लिये गये वर्ना हमने यह संसार, संसार नहीं रहने दिया होता। अब ऐसा लगता है कि यदि मुझे अकेलापन न मिला होता और सामान्य जीवन तथा परिस्थितियाँ मिली होतीं तो मैं प्रत्येक घर के चूल्हे की गंध से परिचित न हो पाता। न जाने कितने तरह के घर-परिवारों में रहना हुआ, उपेक्षा और प्यार मिला, अपना-पराया सुनते-सुनते कान पक गये होंगे लेकिन किसी घर को साधिकार भाव से घर नहीं कह पाया हूँगा। लेकिन इस सबके बावजूद कभी उपरति नहीं हुई। जीवन का आरंभिक अकेलापन आसक्ति और असंगता दोनों हो जाएगा, यह नहीं जानता था। बस उन दिनों अच्छाई यही थी कि किताबों के कारण थोड़ा जानने की दिशा का बोध होने लगा कि मनुष्य मात्र में अलभ्यता है लेकिन यह सम्पदा सर्जक की आँख होने पर ही देखी जा सकती है।

जब हम किसी वन के लिए जंगल शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारे मन पर एक भिन्न प्रभाव पड़ता है और जब अरण्य की संज्ञा देते हैं तो सर्वथा अर्थ बदल जाता है। जंगल के साथ वन का पशु-व्यक्तित्व और भय प्रमुख हो उठता है लेकिन अरण्य के साथ नहीं। व्यक्तित्व गुणात्मक रूप से बदल जाता है। किलेवाली पहाड़ी के दूसरी तरफ था तो जंगल ही परन्तु सघन वृक्षराजि के कारण उसका स्वत्व अरण्य का हो गया था। आम भाषा में उसे "कन्तोड़ा" कहा जाता था। इससे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि किसी भी प्रकार की निर्जनता में एक प्रकार की चुम्बक शक्ति होती है। उसके इस शक्ति स्वत्व को आप अनायास ही अनुभव करने लगते हैं। व्यक्तियों के सन्दर्भ में जिसे प्रभा-मण्डल कहा जाता है कुछ-कुछ ऐसा ही निर्जनता के साथ भी है। किले से सटी जो एकमात्र सड़क है वह पहाड़ी और कन्तोड़ा को अलग करती है। उन दिनों उस पर घूमने जाते हुए सदा ऐसा लगता कि रात में इस सड़क को, इस निर्जनता में, अकेले भय नहीं लगता होगा? कहते हैं यहाँ कभी-कभार शेर तक आ जाते हैं, तब सड़क को पसीना आ जाता होगा न? हालाँकि आज तक किसी भी सड़क को पसीना आया, ऐसा नहीं देखा-सुना गया। पर हम भूल जाते हैं कि जब हम इस प्रकार सड़क या किसी भी निर्जीव चीज के बारे में कह रहे होते हैं तब वस्तुत: प्रकारान्तर से वह वस्तु या स्थान हम ही हो गये होते हैं। हाँ, कस्बे की समाप्ति होते न होते कन्तोड़ा की सघनता बढ़ती जाती। पहाड़ी सड़क पर से वर्षाकाल के झरनों के लिए बहुत सी पुलियाएँ थीं। इस सड़क का स्वरूप और प्रकार भी पहाड़ी सड़क जैसा ही था-सर्पिल। साथ के मित्र फिजूल की बातें कर रहे होते लेकिन प्राय: मेरा मन करता कि किसी पुलिया पर बैठकर कन्तोड़ा के उतरते चले गये विस्तार और सघनता को अनुभव करूँ। जब भी ऐसा कर सका जंगल को क्रमश: अरण्य होते देखा। सागौन के कद्दावर पेड़ कैसे फिसलते-उतरते मीलों दूर चले गये होते हैं। गर्मियों में या तो पीले ऐंठे पत्ते हवा में बोलते-डोलते रहते या वर्षाकाल में सारी धरती दूब की छोटी सी वानस्पतिकता से लेकर विशाल पेड़ों की सघनता से मंडित हो जाती है। नालों के जो सूखे पड़े पथ कँकरीले होते उनमें जब वर्षा जल चलने लगता तो लगता कि जल कैसे सम्हल-सम्हल कर चलना और उतरना सीख रहा है। वैसे प्रत्येक निर्जनता में एक भाषा अनिवार्यत: होती ही है। चूँकि हम उसके अभ्यस्त

नहीं होते इसलिए हमें सन्नाटा लगता है। जिस प्रकार पूर्ण अंधकार संभव नहीं, कितना ही क्षीण से क्षीणतर प्रकाश हो, वह होता ही है, बिना प्रकाश के अंधकार संभव ही नहीं, इसी प्रकार प्रकाश मात्र में अंधकार होता है। बिना अंधकार के प्रकाश संभव ही नहीं। कुछ नहीं तो ध्यान से सुनने पर हवा ही पेड़ों से गुजरते हुए बोलती सुनायी पड़ सकती है। दोपहर में भले ही चिड़ियाँ या पक्षी कहीं चले गये हों तो सन्नाटे का भाव लग सकता है लेकिन सवेरे और शाम तो मानवीय घरों की चिल्ल-पों जैसा ही पेड़ों पर भी सुनायी देगा। इतना शोर होगा कि दूसरे सारे स्वत्व उसमें तिरोहित हो जाते हैं। कई बार पुलिया के एक तरफ यदि आप बैठे हुए हों तो सामने की पुलिया पर जंगल का एकान्त भी बैठा हुआ लगता है। आप चाहें तो एक-दूसरे को देख सकते हैं। वस्तुतः यह वैसा ही प्रतिबिम्ब होता है जैसे जल में होता है। एक खास अक्षांश से ही ऐसा प्रतिबिम्ब देख सकना या अनुभव कर सकना संभव होता है वर्ना गलत अक्षांश से देखने पर सारा जल सिमट कर एक रेखा बन जाता है। न जाने क्यों मुझे वन-भाषा, वन-गंध, वन-व्यक्तित्व सब कुछ अपनी अभिव्यक्ति लगते। मैं ही हूँ जो यहाँ से चला जाकर सागौन, सूखे नदी-पथ पगडंडियाँ बनकर उपस्थित हुआ रहूँगा। जंगल मुझे अपने पर मयूरपंख सा खोंसकर तथा मैं जंगल को वन-माला बनाकर धार लूँगा तब क्या स्वयं मुझे भी पता होगा कि मैं कहाँ हूँ? जब भी कन्तोड़ा घूमने जाता हूँ तो मुझे यही चिंता रहती है कि मैं पूरी तरह यहाँ के इस इन्द्रजाल से बाहर आ सकूँ। लेकिन क्या यह सच नहीं है कि आज पचास-साठ वर्षों के बाद भी मेरा कोई अंश है जो कन्तोड़ा की एक पुलिया पर बैठा हुआ वन से बातें कर रहा है और मेरे साथ लौट आना भूल चुका है। शायद हम कहीं से भी पूरी तरह कभी नहीं लौट पाते हैं। यह जो हमारा स्मृति-कोष है वह वस्तुतः हमारा वह अंश है जो लौटा नहीं होता है और हमें अहोरात्र रच रहा होता है।

पुस्तकालय के आगे जलाशय के सिरे पर एक छोटी सी गढ़ी है जो कि वस्तुतः मंदिर है। वर्षाकाल में जब जलाशय में पानी बढ़ जाता है तब गढ़ी की सारी सीढ़ियाँ डूब जाती हैं। उसमें जाने के लिए तब पानी में से होकर जाना होता

है। यहाँ के पुजारी का बेटा नारायण हम लोगों का सहपाठी तो था ही साथ ही उसे साहित्य, से भी खासा लगाव था। उसी के कमरे में हम कभी-कभी तीन-चार साथी बैठा करते थे। शायद इस परिवार के कुछ लोग सिंगापुर में कभी व्यापार या नौकरी के सिलसिले से गये होंगे इसलिए इन लोगों के नामों के आगे सिंगापुरी विशेषण जुड़ गया था। नारायण सिंगापुरी का कमरा क्या था, पत्थर की दीवारों वाली गोल बुर्जी थी। दीवारों पर चित्रों से अधिक कुछ सुभाषित, कविताओं की प्रसिद्ध पंक्तियाँ कागज पर लिखी चिपकी होतीं। आज नहीं कह सकता कि साहित्य चर्चा कितनी होती थी लेकिन उसके मंसूबे जरूर होते थे। शायद शंकरसिंह इन सारी चर्चाओं को कुछ ज्यादा ही गंभीरता से लेता था। इसीलिए एक हस्तलिखित पत्रिका निकालने की योजना बनने पर शंकरसिंह ने उसका सारा दायित्व अपने पर ले लिया था। निश्चित ही अनुभव तो किसी के पास नहीं था लेकिन जैसा उत्साह था उसमें अनुभवहीनता बाधा नहीं हो सकती थी और यही हुआ। कैसे वह पत्रिका स्वरूप पाती गयी, कैसे अधिक से अधिक उसे सुन्दर बनाया जाए, ये सारी बातें आज सुगन्ध देती हैं। नारायण सिंगापुरी की लिखाई सुन्दर थी इसलिए उसी ने पूरी पत्रिका जतन से लिखी। जो भी कारण रहा हो पत्रिका के मुखपृष्ठ पर मेरी कविता थी। शंकरसिंह कहानियाँ और लेख लिखता था। इस प्रकार साहित्य की इस पहली कोलम्बसी यात्रा का श्रीगणेश हुआ। उस उत्साह के बारे में सोचने पर आज भी रोमांच होता है। ऐसा नहीं कि बाद के वर्षों में ऐसी अनाम यात्राओं पर नहीं निकले या गये परन्तु पहले प्रयास का सुख, परितृप्ति फिर नहीं अनुभव हुई।

जिस दिन पत्रिका तैयार हुंई उस दिन हम सब कैसे नहाये-धोये कपड़े-लत्तों से लैस कुँवर रघुवीरसिंह के बड़े से कमरे में पूरे उत्साह भाव से एकत्र हुए थे। कुँवर रघुवीर सिंह सरकार के भतीजे होते थे। दो-एक अध्यापक तथा कुछ स्कूली साथियों को भी आमंत्रित किया गया था। चूँकि शंकरसिंह पत्रिका का संपादक था इसलिए वह इस आयोजन को लेकर काफी गंभीर था। पत्रिका की ओर से वही बोला और काफी गंभीरता से बोला। मैंने पत्रिका में छपी अपनी कविता पढ़ी। जहाँ तक याद पड़ता है वह कविता सुभद्राकुमारी चौहान की "देव तुम्हारे कई उपासक कई ढंग से आते हैं" से काफी कुछ प्रभावित थी। आज उस पत्रिका का नाम भी याद नहीं परन्तु वर्षों के अन्तराल पर भी स्मृति के क्षितिज पर बहुत ही डूबे-डूबे रूप में वे दिन, वह आयोजन, वे साथी, सब दिखलायी देते हैं। वह आरंभ बिन्दु आज भी ध्रुव तारे सा अपने आकाश में प्रकाश देता बहुत सुदूर चला गया लगता है। परन्तु वह है, चाहे कहीं हो, और अपने साथ पूरा नरसिंहगढ़ वहन करता काल की घाटियों में यात्रित है। कभी-कभी उस यात्रिक की आहट आ

जाती है और मुझे लगता है कि अपने उस प्रारंभ से आज भी मेरा सातत्य यथावत् बना हुआ है। मैं उसके बाद कहीं गया हूँगा, न जाने कितनी घाटियाँ, चढ़ाइयाँ पार की होंगी परन्तु अपने किशोर पैरों की आहट आज भी मुझे सुनायी पड़ती है। इसीलिए जब तक यह सब विद्यमान है तब तक ही मैं बना रह सकता हूँ।

अब आगे की पढ़ाई के लिए उज्जैन जाना था लेकिन अभी गर्मी की छुट्टियाँ थीं और मैं अपने जीजा के पास इंदौर चला आया। वैसे तो दीदी का काफी पहले देहान्त हो चुका था पर यह परिवार अभी भी संबंध निभाता था। यहाँ बस मेरा एक ही काम था, राजबाड़े के पास वाले पुस्तकालय से किताबें लाना और दिन भर बिस्को-पार्क में बैठकर किताबें पढ़ना और कविताएँ लिखना। उन दिनों मालवा में गर्मियाँ भी बड़ी खुशगवार होती थीं। पार्क में एक बड़ा सा गुलमोहर था। गर्मियों में उसके फूल खूब खिले होते थे। नीचे चारों ओर फूल की पत्तियाँ झरी होतीं तो लगता जैसे किसी ने अल्पना कर रखी है। पेड़ के तने से किराये की साइकिल टिका कर मुंशी प्रेमचंद, शरद बाबू, बंकिम के उपन्यास तो पढ़ता ही था लेकिन कुछ दिनों से बच्चन का "निशा-निमंत्रण" और नरेंद्र शर्मा का "प्रवासी के गीत" पढ़ने का भी मौका मिला। इन दोनों संग्रहों से काफी प्रभावित हुआ। बल्कि कहना चाहिए कि उसी भाषा और छन्द में बड़े ही अविश्वसनीय रूप से कविताएँ लिखीं। मैं जान रहा था कि ये कविताएँ मेरी नहीं हैं परन्तु मैं लिखता रहा। इन दोनों संग्रहों की अनेक कविताएँ तो कंठस्थ भी हो गयी थीं। अभी मैं काव्य-लेखन में अनुकरण की सीढ़ी पर ही खड़ा था। धीरे-धीरे यह अनुकरण ही स्वाभाविक लगने लगा। औरं जब गर्मियों की छुट्टियाँ समाप्त हो रही थीं तब देखा कि कापी में ढेरों कविताएँ हो गयी हैं। कभी लगता कि मेरी कविताएँ इन दोनों संग्रहों से कमजोर नहीं है परन्तु जब ध्यान आता कि ये अनुकरण हैं तो एक दिन उन सबको नष्ट कर दिया। चूँकि ये मेरी अपनी कविताएँ नहीं थीं इसलिए उन्हें नष्ट करने का कोई खास दुःख भी नहीं हुआ। परन्तु बाद में लगा कि यह अनुकरण मुझे प्रशिक्षित करने के लिए आवश्यक था। इस प्रक्रिया में से गुजरने के बाद उज्जैन पहुँचने पर मुझे लगा कि मैं चाहूँ तो अपने को कवि समझ सकता हूँ। इसके पूर्व तक ऐसी कोई इच्छा नहीं जागी थी।

वैसे तो उज्जैन, नरसिंहगढ़ की अपेक्षा बड़ा शहर था परन्तु इंदौर से छोटा था। उन दिनों सूर्यनारायण व्यास, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', प्रभाकर माचवे, मुक्तिबोध, दीनानाथ, शेख मुईनुद्दीन, गिरिधर ठक्कर से लेकर अन्य कई कवि, लेखक थे। माधव कालेज में भी श्याम परमार, हरिनारायण व्यास, गजानन वर्मा, नरेन्द्र धीर

आदि लेखक थे। उज्जैन में लेखक या तो व्यासजी के घर जमा होते थे या फिर पुरोगामी साहित्य परिषद की बैठकों में जाते थे। परिषद की मीटिंगों में ज्यादातर नये लेखक होते जो धीरे-धीरे प्रगतिशील आन्दोलन के प्रभाव में आते जा रहे थे। उज्जैन पहुँचकर स्टूडेंट फेडरेशन के प्रभाव के कारण मेरा भी थोड़ा झुकाव राजनीति की ओर होने लगा था। यद्यपि स्टूडेंट फेडरेशन एक प्रकार से कम्युनिस्ट पार्टी की ही एक शाखा जैसा था परन्तु उन दिनों तक राजनीति में बहुत स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं थी। चूँकि वह स्वाधीनता आन्दोलन का युग था और स्वतंत्रता का संघर्ष उत्तरोत्तर तीव्र होता जा रहा था इसलिए राजनीतिक-विभेदों की ओर उस समय तक किसी का खास ध्यान नहीं था। यह समय द्वितीय विश्व-युद्ध का भी था। कम्युनिस्टों के हिसाब से यह युद्ध उस समय तक साम्राज्यवादी था लेकिन जैसे ही रूस इसमें शामिल हुआ कि वही जनयुद्ध हो गया। भारतीय स्वतंत्रता की लड़ाई की प्रकृति को लेकर इस बीच कम्युनिस्टों का चरित्र और आचरण राष्ट्रीयता विरोधी स्पष्ट होने लगा। जिसकी पराकाष्ठा सन् ४२ के आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में एक दिन साफ हो गयी। इस अवसर पर अनेक लोगों का पार्टी से मोहभंग हुआ। जो लोग इस आंदोलन में सक्रिय थे उनके मोहभंग की अभी स्थिति नहीं बनी थी। इसके बाद तो ९ अगस्त वाला आंदोलन जोर पकड़ता गया। उधर भारतीय राजनीति में कई बड़े भूचाल घटित हुए। सारे कांग्रेसी नेता बंदी बनाये जा चुके थे। अंग्रेज सरकार ने खुलकर दमन की नीति अपना रखी थी। इस बीच सबको लगने लगा कि द्वितीय विश्व-युद्ध अब अपनी समाप्ति की ओर बढ़ रहा है। इसके बाद नेता छोड़े गये, क्रिप्स मिशन आया और धीरे-धीरे लगा कि अब अंग्रेज इस देश को गुलाम नहीं बनाये रख सकते तो फिर कैसे मुस्लिम लीग की आड़ लेकर धार्मिक खून-खराबा करवाया गया। इसी रक्तपात पर चलकर पाकिस्तान का आविर्भाव हुआ। लाखों बेघरबार हुए। शरणार्थी बनकर अमानवीय यातनाएँ भोगीं। लोगों के विश्वास डिगे ही नहीं बल्कि खंडित हुए और १५ अगस्त सन् १९४७ को मानवीय रक्त में सराबोर स्वाधीनता मिली, जिसे कभी भी स्वाधीनता के रूप में देश अनुभव ही न कर सका। यह सब एक दशक की अवधि में इतनी तेजी से घटित हुआ कि विवेक और चेतना के सारे गणित गड़बड़ा गये। एक साथ इतने ज्यादा और इतने अविश्वसनीय परिवर्तन हुए कि विगत की सभी मान्यताएँ या तो अप्रासंगिक हो गयीं या निरर्थक लगने लगीं। साहित्य में भी सर्जना का सारा गणित उलट गया। प्रतिष्ठित छायावाद पर प्रश्नचिह्न लगाया जाने लगा। मैं एक ओर जहाँ विद्यार्थी राजनीति में सक्रिय था वहीं दूसरी ओर छायावादी-काव्य से परिचित हो रहा था और तब समझ में आया कि महत्वपूर्ण कविता क्या होती है। उन दिनों सबसे अधिक

महादेवी वर्मा के "सांध्य-गीत" ने प्रभाव डाला। हालाँकि कोर्स में प्रसाद, पंत, निराला, आदि भी थे लेकिन महादेवी में जो एक प्रकार की काव्य-मुग्धता थी वह दूसरों में नहीं लगी।

उज्जैन में कालेज स्तर पर भी साहित्यिक गतिविधि खासी थी। उज्जैन पहुँचने के एक वर्ष पूर्व तक रमाशंकर शुक्ल "हृदय" हिन्दी के प्राध्यापक थे। वह गंभीर रूप से बीमार होकर लखनऊ चले गये थे परन्तु उज्जैन के साहित्यिक वातावरण पर उनका अच्छा खासा प्रभाव था। मैं स्टूडेंट फेडरेशन में था परन्तु उसके बावजूद साहित्य में पुरोगामी साहित्य परिषद से संबंध नहीं बना सका। इसका कारण था कि कविता में, मेरी रुझान तब छायावाद पर केन्द्रित थी और पुरोगामी साहित्य परिषद के लेखकों पर मार्क्सवाद का प्रभाव था। इसकी मीटिंगों में मुक्तिबोध और माचवे तो होते ही थे परन्तु नेमीचंद्र जैन भी कभी-कभार आ जाते थे। नेमी उन दिनों शुजालपुर में गांधीवादी जोशीजी के एक राष्ट्रीय स्कूल में अध्यापक थे। यहीं नेमीजी से परिचय हुआ जो कालांतर में निकट होता गया। लेकिन उज्जैन के सारे समय मुक्तिबोध का और मेरा यदि कोई संबंध था तो वह विरोध का ही था। हम दोनों ने एक दूसरे को खारिज कर रखा था। वह तो बाद में सन ५३ में नागपुर में आत्मीयता हुई। माचवे तर्कशास्त्र पढ़ाते थे परन्तु मैं उन्हें न तो टीचर के रूप में, न लेखक के रूप में कभी विशेष महत्व न दे सका। कहने का तात्पर्य यह कि मैं न तो सूर्यनारायण व्यास के पारंपरिक सम्प्रदाय में था और न ही वामपंथियों के गिरोह में शामिल था। साहित्य को मैं अपनी दृष्टि से समझना चाहता था। जब भी पुरोगामी साहित्य परिषद की बैठकों में जाना हुआ तो मुझे हमेशा लगा कि यहाँ साहित्य की नहीं बल्कि राजनीति की चर्चा अधिक होती है और उसके भी इनके अपने साँचे, बने बनाये फिकरे हैं। इनकी साहित्य और समाज की समझ भी या तो इतिहास विरुद्ध लगती, या भारतीयता को झुठलाने वाली होती या परंपरा की गलत व्याख्या होती। हर बार इन मीटिंगों से लौटकर मन वितृष्ण हो जाता। प्रायः शंका होती की साहित्य और समाज को जिस प्रकार ये परिभाषित करते हैं, स्वरूप देना चाहते हैं तो फिर हमारी आज तक की साहित्य और उसके काव्य-शास्त्र तथा सौन्दर्य शास्त्र की समझ को क्या कहा जाएगा? मार्क्स के पूर्व मानवता ने चिन्तन, मनन और सृजन के क्षेत्र में जो उपलब्धियाँ प्राप्त कीं क्या उन्हें वर्गवादी प्रतिमान से अस्वीकार किया जा सकता है या किया जाना चाहिए? हम इतिहास के जिस बिन्दु पर खड़े हैं, जिन सामाजिक विषमताओं से घिरे हैं, जिस राजनीतिक और आर्थिक शोषण से ग्रस्त हैं उसे पूर्वाग्रह बनाकर अतीत के महत्व को यदि अस्वीकार कर दिया जाएगा तो हमारे पास कैसी और कितनी पूँजी रह ही

जायेगी? लेकिन मुझे उत्तरोत्तर लगता कि तर्क का इनसे कोई संबंध नहीं है। ये भी अन्ध विरोध से वैसे ही ग्रस्त हैं जैसे यूरोप और मध्य एशिया के सेमेटिक मजहब। एकेश्वरवाद का तात्विक चिन्तन आचरण में कितना दुराग्रही हो सकता है उसके ये लोग उदाहरण थे। लेकिन कठिनाई यह थी कि ये मार्क्सवादी लेखक ही तो समकालीनता थे और उस आरंभिक स्थिति में अपनी इस समकालीनता की उपेक्षा संभव ही नहीं थी। मेरे लिए द्विधा की स्थिति उज्जैन में नहीं बल्कि लखनऊ में जाकर तीव्र हुई थी। यह अलग बात थी कि राजनीति में मुझे कांग्रेस से कोई लगाव नहीं था और उन दिनों कांग्रेस का सिवाय कम्युनिस्ट पार्टी के और कोई विकल्प भी नहीं था इसलिए मैं कम्युनिस्ट पार्टी का ''फेलो ट्रेवेलर'' जैसा था।

उज्जैन के उन आरंभिक दिनों में सबसे पहले जिस महत्वपूर्ण, ख्यात कवि के संपर्क में आया वह थे सोहनलाल द्विवेदी। उस साल मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति ने इंदौर में व्यापक पैमाने पर एक कवि-सम्मेलन आयोजित किया था। उसमें भाग लेने के लिए सोहनलाल द्विवेदी उज्जैन आये हुए थे। उनके आगमन की सूचना लेखकों को दी गयी कि सूर्यनारायणजी व्यास के घर पर द्विवेदीजी का काव्य-पाठ होगा। मैं शायद पहली बार व्यासजी के घर गया था। करीब बीस-पच्चीस लेखक जमा थे। उन्ही दिनों द्विवेदीजी का ''भैरवी'' संग्रह भी निकला था। उस संग्रह से उन्होंने काफी कविताएँ सुनायीं। स्थानीय कवियों से भी कुछ सुनाने के लिए कहा गया था अतः मेरा भी नंबर आया। और मैंने द्विवेदी जी की राष्ट्रीय कविताएँ सुनकर अपनी एक राष्ट्रीय कविता सुनाना ही उचित समझा। आश्चर्य कि द्विवेदीजी को वह कविता बहुत पसंद आयी जिसकी पहली पंक्ति थी-''माँ, आज सवेरे ही से यह कौन बजाता रणभेरी।'' द्विवेदी जी ने मुझसे पूछा कि क्या मैं भी इंदौर कवि-सम्मेलन में जा रहा हूँ? तो मैंने अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। द्विवेदीजी ने व्यासजी से मुझे भी ले चलने के लिए कहा और इस प्रकार मैं समिति के उस कार्यक्रम में पहुँचा।

इस आयोजन के पीछे थोड़ी राजनीति भी थी। ''वीणा'' के तत्कालीन संपादक कालिकाप्रसाद दीक्षित ''कुसुमाकर'' ने इस आयोजन में, इंदौर ही नहीं बल्कि मध्यभारत के सारे कवियों को उपेक्षित कर रखा था। महाकोशल या उत्तरप्रदेश के ही सारे कवि आमंत्रित थे, इसलिए कवि-सम्मेलन के समय काफी तनाव था। इस विरोध और तनाव का नेतृत्व वीरेंद्र कुमार जैन कर रहे थे। मैं चूँकि इस सारी राजनीति के बारे में कुछ नहीं जानता था इसलिए मजा ले रहा था। यह कवि-सम्मेलन क्रिश्चियन कालेज के हॉल में आयोजित था। श्रोताओं में

ज्यादातर विद्यार्थी थे और विद्यार्थियों के बीच विरोध की भावना का काफी प्रचार हो चुका था। कवि-सम्मेलन की अध्यक्ष श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान थीं। स्थिति यह थी कि जो कवि कविता पढ़ने जाता उसकी जमकर हूटिंग की जा रही थी। तत्कालीन कई महत्वपूर्ण कवि आये हुए थे परन्तु स्थिति पर काबू पाना सुभद्राजी के बस का नहीं था। वह कुछ देर के लिए उठ गयीं और जाते हुए सोहनलालजी को भार दे गयीं। इस बीच कवियों को हूट होते देखकर सोहनलालजी ने सुभद्राजी से मुझे काव्य-पाठ करवाने के लिए कहा था परन्तु जहाँ अच्छे खासे कवि हूट हो रहे थे वहाँ एक नये लड़के से काव्य-पाठ करवाना कहाँ की समझदारी थी? लेकिन सुभद्राजी के जाते ही द्विवेदीजी ने मुझे काव्य-पाठ के लिए खड़ा कर दिया। निश्चित ही मुझे हतप्रभ होना ही था परन्तु मैंने काव्य-पाठ आरंभ किया। मुझे लोगों ने जिस मंत्र-मुग्ध भाव से सुना उसे देखकर सब चकित थे। इस बीच सुभद्राजी लौट आयी थीं और मेरे काव्य-पाठ पर चकित थीं। पर आज ऐसा लगता है कि मेरी कविता से ज्यादा लोग मेरे काव्य-पाठ के ढंग से प्रभावित हुए, साथ ही मध्यभारत क्षेत्र की जो उपेक्षा हुई थी उसकी पूर्ति केवल मुझे सुनकर ही छात्रों ने प्रदर्शित की। सोहनलाल द्विवेदी, जो कि बहुत प्रभावी ढंग से कविता सुनाते थे, को भी छात्रों ने नहीं सुना।

दूसरे दिन मुझे स्थानीय साहित्यकारों ने काफी फटकारा कि मैंने कवि-सम्मेलन में क्यों हिस्सा लिया? जो हो, कवि-सम्मेलन का यह मेरा पहला अनुभव था। उसी क्रम में समिति के द्वारा कवियों को धार-मांडू भी ले जाया गया था। धार में तो सुभद्राजी ने मुझसे सब से पहले पढ़वाया। सुभद्राजी ने बहुत आत्मीय सरलता से कहा कि तुम्हारी छायावादी कविता मेरी समझ में तो नहीं आती परन्तु तुम पढ़ते खूब हो। निश्चित ही मैं तब भी थोड़ा बहुत दूसरों के प्रभाव में ही कविताएँ लिख रहा था, जिसे मुझे छोड़ना होगा। मुझे अपना पथ खोजना ही होगा और इसके लिए मुझे काशी जाना होगा, इसका मुझे तब पता नहीं था।

क्या मैं उस दिन जानता था कि आगे पढ़ने के लिए काशी जाने का निर्णय मेरे जीवन के लिए भी इतना निर्णयकारी होगा? उस युवा-काल में व्यक्ति अपने आत्मविश्वास के सम्बल पर कठिन से कठिन निर्णय लेता है और विषम से विषम परिस्थितियों का सामना करता है। मुझे भी शायद घोर विषमताओं से गुजरना था लेकिन जिसकी कोई पूर्व प्रतीति नहीं थी। कहा जाना चाहिए कि अच्छा ही हुआ क्योंकि प्रतीति होती तो संकल्प की मुट्ठी संभव है पुनः अँगुलियाँ बनकर फैल जातीं। मालूम हुए रहने पर क्या उस निरवलंब स्थिति में इतने दूर परदेस में जाने का साहस कर सकता था? उस दिन इटारसी से जब काशी के लिए ट्रेन ली तो मैं शायद कुछ नहीं सोच रहा था। बस यही लगता रहा कि मैं जा नहीं रहा हूँ बल्कि ले जाया जा रहा हूँ। काशी एक ऐसा नाम था जिससे यज्ञोपवीत संस्कार के समय से परिचित हुआ था। उस दिन तो विद्याध्ययन के लिए काशी-यात्रा का मात्र नाटक अभिनीत जैसा ही हुआ था पर इस बार वह नाटक घटित हो रहा था। इस यात्रा के समय जो जमा-जथा मेरे पास थी उसे सोचकर हँसी तो आती ही है पर आज भय लगने लगता है कि कैसे जेब में मात्र दस-बारह रुपये लेकर मैं सर्वथा अपरिचित काशी चला जा रहा था। शायद इसी को युवावस्था कहते हैं। तब मन में कोई भाव नहीं था। जैसे मैंने प्रवाह को स्वीकार लिया था कि अब यही मेरी दिशा और गति है। इसीलिए जब भिनसारे में बनारस कैंट पर उतरा तो लगा कि मैं उतरा नहीं बल्कि मैंने अपने को उतारकर प्लेटफार्म पर रख दिया, लगभग एक लावारिस लगेज की तरह। लेकिन आज लगता है कि संसार में कुछ भी लावारिस नहीं होता। संबंधों के भटक जाने को हम लावारिसपन समझ लेते हैं। मैं कैसे काशी पहुँचा उसके बाद कैंट के प्लेटफार्म से कैसे एक संभ्रान्त दम्पति द्वारा उनके घर ले जाया गया और उन आरंभिक दिनों में कैसे वे मेरे पार्श्व में खड़े हुए—यह सब सोचकर क्या ऐसा नहीं लगता कि सचमुच ही कोई मुझे काशी ले गया था? कौन ले गया था, जब इसे मैं नहीं जानता तो किसी अन्य को कैसे बताया ही जा सकता है? जो बताया या कहा जा सकता था वह उस दिन मालवीय-ब्रिज से सवेरे के धुँधलके में देखी गंगा थी। आलोक-आँधार की झलफलिया में गंगा तट से सटे घाट और मकान थे। दो मीनारों वाला माधोदास का धरहरा था। यह वह

काशी थी जहाँ अनादिकाल से ब्राह्मण बटुक हाथ में दण्ड और कमर में कोपीन कसे, भिक्षान्न माँगते हुए, शिक्षा प्राप्ति के लिए आता रहा है। गनीमत यही थी कि दण्ड-कमण्डल तो मेरे हाथों में नहीं थे परन्तु शिक्षा प्राप्ति का भाव मन में जरूर था। कहा जा सकता है कि भिक्षान्न माँगा चाहे न हो, परन्तु नहीं प्राप्त हो सकता था भी नहीं कह सकता।

जिस काल में मैं काशी पहुँचा वह विद्वत्ता की दृष्टि से भले ही सम्पन्न रहा हो, जो कि था, परन्तु साहित्यिक सर्जना की दृष्टि से अकिंचन हो चला था। ''प्रसाद'' और रामचंद्र शुक्ल दिवंगत हो चुके थे, साथ ही प्रेमचंद भी। कहने को छोटे-बड़े कुछ नाम अवश्य थे लेकिन सर्जनात्मक दृष्टि से उनका विशेष प्रभाव नहीं था। आलोचकों में जरूर श्यामसुन्दर दास तथा शांतिप्रिय द्विवेदी चर्चित नाम थे परन्तु इनमें से किसी का शुक्लजी जैसा मरतबा नहीं था। यदि कहा जाए कि काशी सदा से शैव आध्यात्मिकता, शक्ति-उपासना और पारंपरिक विद्वत्ता का ही प्रमुख स्थान रहा है न कि सर्जना का, तो गलत न होगा सिवाय प्रेमचंद, प्रसाद और भारतेन्दु के काशी से शायद ही कोई महत्वपूर्ण स्वत्व आया हो। इन लोगों के बाद काशी के साहित्यिक जगत में जो नाम थे उन्हें मैं कोई विशेषण नहीं देना चाहता। काशी की एक विशेषता सदा से रही है कि एक ओर योगियों, साधकों की कभी कमी नहीं रही तो उद्‌भट विद्वान भी सदा होते आये। इसी क्रम में काशी के मौज-पानी वाले स्वभाव क्रम में गुंडे, पहलवानों के साथ-साथ यहाँ की हर गली के मुहाने पर किसी प्रसिद्ध भाँड का नाम टीन पर लिखा बिजली के खंभे पर ठुका मिल जाएगा। मौज-पानी काशी का स्थायी स्वर रहा है। यह स्वर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और प्रसाद तक में स्पष्ट देखा-सुना जा सकता था। शायद इसीलिए काशी में गंभीर सृजन के स्थान पर हास्य-विनोद की परंपरा मुखर रही। लेकिन निश्चित ही वह हास्य, विनोद तो नहीं ही था, कोई इसे हास्यास्पद कहे तो उसे रोका भी नहीं जा सकता। हास्य-रस के कवियों में बेढब बनारसी, जो कि लोगों के द्वारा या तो ''मास्टर साहब'' या ''गौड़जी'' कहलाते थे, ही शीर्ष पर थे। कहा जा सकता है कि गौड़जी का हास्य निश्चित ही विनोद की कोटि का होता था। वह देखने में जितने सुदर्शन और गंभीर थे उसे देखकर उन्हें हास्य का कवि मानना कठिन था। काशी में उन दिनों हास्य-रस का प्रत्येक कवि ''बनारसी'' जरूर जोड़ लेता था जैसे बेधड़क बनारसी, गुरु बनारसी, राहगीर बनारसी आदि-आदि। इन सारे बनारसियों का एक गिरोह जैसा था जो साहित्य की गंभीरता में कतई विश्वास नहीं करता था और न ही किसी गैरबनारसी को अहमियत देता था। वैसे काशी के बाहर से आये

किसी व्यक्ति को महत्व न देना यह शायद काशी के स्वभाव और प्रकृति में ही है। खैर—

इन हास्य-रस के कवियों के अलावा गीतकारों का एक समूह था जिसके शीर्ष-पुरुष शम्भूनाथ सिंह थे। चाहें तो इसे बनारसी काव्य-गायकी का स्कूल कह सकते हैं। इसमें प्राय: पूर्वी क्षेत्र के देहातों से आये युवा-कवि थे। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इन सारे कवियों की कविताओं में ही समानता नहीं होती थी बल्कि काव्य-गायकी का भी एक ही ढंग था इसे शम्भूनाथ-घराना भी कहा जा सकता है। कुल मिलाकर इनके काव्य और काव्य-गायकी में लोकतत्व सुर और स्वाद से दोनों स्तरों पर बिरहा-कजरी गाने वालों का स्मरंण होने लगता। जाहिर है कि साहित्य के इन दोनों अतिवादी खेमों से मेरा संबंध संभव नहीं था। इसके अलावा कुछ लेखक ऐसे भी थे जो इन दोनों खेमों में नहीं थे। इनमें कुछ समाजवादी विचारधारा और पार्टी से प्रभावित थे तथा कुछ कम्युनिस्ट विचारधारा और पार्टी से जुड़े हुए थे। समाजवादी विचारधारा वाले लेखकों में कोई खास नाम नहीं था लेकिन कम्युनिस्ट धारा वाले लेखकों में अमृतराय, चन्द्रबलीसिंह आदि थे। नन्ददुलारे वाजपेयीजी का संबंध इन्हीं लेखकों से थोड़ा-बहुत था। काशी की उन दिनों की गुरु-परंपरा में केशवप्रसाद मिश्रजी सर्वोपरि थे तथा विश्वनाथ प्रसाद मिश्र रीतिकालीन काव्य के मर्मज्ञ थे। केशवजी का व्यक्तित्व बहुआयामी था। एक ओर तो वह वेदों के तथा संस्कृत के उद्‌भट विद्वान माने जाते थे, साथ ही प्राचीन, अर्वाचीन तथा अनेक पश्चिमी भाषाओं के भी ज्ञाता थे तथा भाषा-शास्त्री भी थे। उनके जैसा गुरु दुर्लभ था। उन दिनों काशी में या तो केशवजी मनस्वी माने जाते थे या फिर कविराज गोपीनाथ जी। मुझे संयोग से दोनों का नैकट्य प्राप्त हुआ। आज निश्चित ही कह सकता हूँ कि मेरे विकास का श्रेय इन दो महापुरुषों को जाता है। सच तो यह है कि मैं कभी भी अच्छा विद्यार्थी नहीं रहा जबकि अध्ययन की पिपासा तीव्र थी। असल में मेरे भीतर एक खिलाड़ी व्यक्तित्व भी था और खिलाड़ी स्वभाव से उन्मुक्त तथा निरकुंश होता है। स्कूली पढ़ाई से मेरा मन हमेशा उचटा रहता था जबकि स्कूली पढ़ाई का तर्क होता है परीक्षोपयोगी पढ़ना। भाषा और विषय पर से आपको सिर्फ गुजरना होता है। केवल जानकारी का स्पर्श ही अपेक्षित होता है। जबकि मेरे लिए प्रत्येक शब्द, चाहे नदी, पहाड़, फूल या कुछ भी हो, केवल शब्द ही नहीं होता बल्कि सम्पूर्ण संसार होता, जिसे पूरी तरह देखे बिना मैं चाहने पर भी आगे नहीं बढ़ पाता था। जबकि इस बीच क्लास और क्लासरूम की पढ़ाई न जाने कहाँ पहुँच गयी होती और मैं अमेजन के जंगलों में

ही खोया होता या साइबेरिया के बर्फीले अंधड़ों से घिरा होता। प्रत्येक शब्द जैसे मुझे कहता लगता कि हम तो केवल शब्द हैं और हमारा अर्थ तो तुम्हारे भीतर है। उस अर्थ का आह्वान करो। जबकि स्कूली पढ़ाई कहती कि परीक्षा पास करो। मेरी अस्मिता की यह पिपासा केशवजी के सान्निध्य से शांत हुई। वह घण्टों भाषा-शास्त्र जैसा शुष्क विषय पढ़ाते और लगता ही नहीं कि हम पढ़ रहे हैं। भाषा अपनी सम्पूर्णता के साथ हममें उतरती ही जाती और अर्थों के क्षितिज खुलते जाते थे। व्यक्ति के रूप में केशवजी का अवदान था तो संस्था की दृष्टि से विश्वविद्यालय का गायकवाड़ पुस्तकालय था। यहीं घंटों बैठकर अंग्रेजी के माध्यम से वेदों से परिचित हुआ। और मुझे जैसे अपना सृजनात्मक मार्ग दिखायी देने लगा। मुझे सर्जना के स्तर पर सर्वथा नयी ऊर्जा अनुभव होने लगी। नहीं याद पड़ता कि इस सर्वथा नयी दिशा से संबंधित पहली कविता कौन सी थी परन्तु अब मेरे लिए सृष्टि के सारे उपादानों में नये अर्थ दिखायी देने लगे। घंटों अपने बिड़ला-छात्रावास या गोविन्द-लॉज की छत पर खड़े हुए वर्षाकालीन मेघ देखता रहता और कल्पनाएँ मुझे अभिषिक्त कर रही होतीं। वैदिक मानसिकता की इन कविताओं के प्रत्यक्ष दृष्टा मेरे मित्र पूर्णगिरि गोस्वामी या कैलाश नारायण माथुर होते थे। कई बार लगा कि मैं अपने देशकाल को लाँघकर न जाने किस देश-काल में पहुँच गया हूँ, जहाँ केवल मैं ही हूँ। सारी काव्यात्मक कल्पनाएँ चाक्षुषी यथार्थ हो उठतीं। कई बार मित्र भी कहते तथा मुझे भी लगता कि इस प्रकार तो एम० ए० नहीं पास कर पाऊँगा। और जिन कठोर परिस्थितियों से सारा विद्यार्थीकाल गुजरा था उसमें फेल हो जाना घातक हो सकता था। और एक दिन जब केशवजी ने पढ़ाई पर ध्यान देने के लिए कहा तो स्थिति की गंभीरता समझ में आयी और मैंने पढ़ाई पर भी ध्यान देना शुरू किया।

काशी के उन आरंभिक वर्षों में अपने सहपाठियों और मित्रों के साथ मिलकर हम लोगों ने एक साहित्यिक संस्था बनायी थी—साधना परिषद्। हर रविवार को हम लोग मिलते और कविताएँ, कहानियाँ पढ़ी जातीं। शहर से विश्वविद्यालय काफी दूर पड़ता था इसलिए शहर की साहित्यिक गतिविधियों से नहीं जैसा ही संपर्क था। अपनी इस परिषद् में हम लोग किसी न किसी महत्वपूर्ण लेखक को या तो शहर से बुलाते या फिर विश्वनाथजी या नन्ददुलारे वाजपेयी तो होते ही थे।

शंभूनाथसिंह भी विश्वविद्यालय में प्राय: काव्य-पाठ के लिए आ जाया करते थे। पहले वर्ष बहुत उत्साह के साथ परिषद् का वार्षिकोत्सव मनाने का निर्णय लिया गया और तय हुआ कि इलाहाबाद से बच्चनजी को लाया जाएगा। इलाहाबाद जाकर उनसे संपर्क करने का जिम्मा मुझ पर तथा एक मित्र गजानन श्रीवास्तव पर आया। हम दोनों किसी प्रकार पूरे उत्साह के साथ उनके यहाँ पहुँचे। उस दिन रविवार था। बच्चनजी यू० ओ० टी० सी० में टीचर की हैसियत से अफसर थे। हम जब पहुँचे तब वह ड्रेस पहननें में व्यस्त रहे होंगे। हमें काफी देर तक बरामदे में प्रतीक्षा करनी पड़ी। बच्चनजी मिलिट्री भूषा में बाहर आये। उन्होंने दो विद्यार्थियों को देखा तो बड़े ही उपेक्षा के भाव के साथ हमारे आमंत्रण को सुना और लिया। अपने आने के बारे में उनकी शर्त थी कि प्रथम श्रेणी का किराया और सौ रुपये लेंगे। हम दोनों एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। हम ज्यादा से ज्यादा किराया दे सकने की स्थिति में तो हो सकते थे परन्तु इससे अधिक कुछ नहीं। सच तो यह कि बच्चनजी का सारा व्यवहार कविजनोचित नहीं लग रहा था और हम बेरंग वहाँ से लौटे। गनीमत यह हुई कि हम लोग रामकुमार वर्मा को आने के लिए तैयार कर सके, और हमारा वार्षिकोत्सव बहुत अच्छी तरह सम्पन्न हुआ। उन दिनों डाक्टर राजबली पांडे हमारे बिड़ला-हास्टल के वार्डन हुआ करते थे। उनकी तरह कई और प्राध्यापक आये। शहर से भी कुछ लोगों को बुला लिया था। इस अवसर पर हम लोगों ने सात विद्यार्थी-कवियों का एक संकलन "तथागत" भी प्रकाशित किया। रामकुमार वर्मा, नंददुलारे वाजपेयी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, राजबली पांडे, शांतिप्रिय द्विवेदी, आदि की उपस्थिति से वह वार्षिकोत्सव स्मरणीय बन गया।

काशी का अवदान दिखने वाली घटनाओं में नहीं था। यदि होता तो जिन दुर्दान्त स्थितियों में चार साल बीते उसमें मैं टूट तो जाता ही, साथ ही काशी के प्रति मेरे मन में हमेशा के लिए वितृष्णा आ जाती। लेकिन ऐसा नहीं हुआ बल्कि इसके ठीक विपरीत हुआ। शायद इसके पीछे घंटों घाटों पर बैठकर गंगा को अपने भीतर अनुभव करना ही था। अहिल्या-घाट पर बंगला कीर्तन और कथाओं ने मुझे पुनर्जन्म दिया। गमछा लपेटे तैल लगाते साहू, डंड पेलते गुरु, बाँस की गोल छतरियों के नीचे संकल्प कराते पंडे, डुबकियाँ लगाते लोग, सीढ़ियाँ चढ़ते दंडी-स्वामी, चाट और चना-मुरमुरा बेचते दुकानदार—इन सबने मुझे उन दुर्दान्त परिस्थितियों में टूटने से बचा लिया। कितनी ही बार भूख की अकुलाहट के बावजूद एक भी पैसा पास में न होने पर भी मालवा वापस लौट जाने का विचार नहीं ही आया होगा क्योंकि सब कुछ के होते हुए भी काशी मेरी अस्मिता बन

चुकी थी। ब्रह्मनाल की गलियों में शाश्वत 'रामनाम सत्य है' सुनकर भी मन में भय नहीं उत्पन्न होता था। मणिकर्णिका की उस अग्नि को आश्चर्य भाव से देखता ही रह जाता कि जो शताब्दियों से अखण्ड भाव, निर्धूम व्यक्तित्व के साथ मृत्यु का महाकाव्य लिखती आ रही थी। अनेक बार केदारघाट की अप्रतिमता के साथ गंगा को मूर्त होते देखा है। मुझे लगता कि अघोरी कीनाराम इस ''गंगी'' को मछली भेजने का आदेश देते खड़े हैं और गंगा में से मछली उछालते गोरे हाथ तत्काल जल में पुनः विलीन हो जाते हैं। प्रायः लगता कि गंगा नदी नहीं है बल्कि सृष्टि का पुण्य है जो अपने को जल के रूप में अभिव्यक्त करता प्रवाहित है। कह सकता हूँ कि परिस्थितियों ने भले ही लाख मुझे तोड़ा लेकिन काशी ने प्रतिदान में मुझे आद्यन्त एक काव्य-छन्द बना दिया।

वैसे तो दुर्गा-पूजा की छुट्टियाँ थीं। हास्टल खाली हो गया था। अकेला मैं ही रह गया था, शायद इसका कारण यह था कि मालवा जाने के लिए पैसा नहीं था। प्रत्येक दिन बिना पैसे के कैसा भारी होता जा रहा था। तभी एक पारिवारिक प्रयोजन की सूचना मिली और मुझे मालवा जाना था। शहर में एक परिचित सज्जन थे उनसे मैं कुछ उधार माँगने ही गया था लेकिन उन्होंने मुझे किसी प्रकार पैसे दिला देने का आश्वासन दिया। बोले कि इसके लिए मुझे थोड़ा अटपटा सा काम करना पड़ेगा। वह मेरे स्वभाव को जानते थे इसलिए थोड़ा हिचक रहे थे लेकिन विवशता की भूमि की जिस अंतिमहीनता पर मैं खड़ा था उसमें मैं कुछ भी करने के लिए विवश था। उन्होंने मुझे सिर्फ इतनी ही विषमता में डाला कि अगर मैं कुछ लोगों को अपनी कविताएँ सुना सकूँ तो पैसा मिल सकता है। मैं उनके संकोची प्रस्ताव पर हँस पड़ा। आखिरकार हम दोनों कुंजगली पहुँचे। कुंजगली बनारसी साड़ियों का प्राचीन ढंग का भूलभुलैया जैसा केन्द्र है। मित्र मुझे लेकर एक दुकान पर पहुँचे। लोग साड़ियाँ खरीदने में लगे थे। मित्र ने दुकानदार से कान में कुछ कहा तथा लौटकर मुझे कविता पढ़ने के लिए कहा। थोड़ा अजीब जरूर लग रहा था कि मैं वैदिक कविताएँ गाकर सुना रहा हूँ और लोग साड़ियों के क्रय-विक्रय में व्यस्त हैं। काव्य-पाठ की समाप्ति पर साहूकार ने अपने गल्ले से दस का नोट मित्र को थमा दिया। इस प्रकार तीन-चार जगह और कविताएँ पढ़नी पड़ीं और मालवा तक का मेरा खर्च निकल आया था। मुझे इस संदर्भ में एक और प्रसंग याद आ रहा है, क्वीन्स कालेज का एक कवि-सम्मेलन। जीवत भर पता नहीं क्यों और कैसे मेरी स्थिति हमेशा अपांक्तेय की सी हो रही है। वैसे किसी की अवमानना करना शायद मेरा स्वभाव नहीं है पर एकदम किसी के निकट हो जाना भी मेरी प्रकृति में नहीं है। खासकर अपने से बड़े, मान्य लोगों से मेरा संबंध 'दूरं वन्दे' का ही रहा होगा। ऐसा किसी घमण्डवश नहीं किया होगा परन्तु अपने भीतर हमेशा मुझे संकोच घेर लेता रहा है। शायद इसका कारण बचपन के अकेलेपन का वह स्थायी भाव है जिससे मैं कभी उबर नहीं पाया। इसीलिए हर आयोजन में या तो मैं पीछे बैठा मिलूँगा या ऐन मंच पर, एक तरफ। वैसे इस आयु में अब मैं केन्द्र में बैठने के लिए ही बाधित हूँ। खैर—क्वीन्स-कालेज वाले उस कवि

सम्मेलन में काशी के कवियों ने हस्बमामूल मुझे अलग-थलग कर रखा था। मंच पर बेधड़क बनारसी अपनी हास्य कविताएँ सुना रहे थे। उसी क्रम में उन्होंने बच्चन की ''प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर,'' की एक पैरोडी सुनायी। सुनाते हुए वह बार-बार मेरी ओर इशारा करते जा रहे थे—

**कविता मत कर, मत कर, मत कर !!**

**लंबे बाल, और दुबला तन**

**जिससे जगमग कवि-सम्मेलन**

**यह कवि की तस्वीर नहीं है, वेश्या की है रे कायर !!**

**कविता मत कर, मत कर, मत कर !!**

जाहिर है कि मुझे अच्छे-खासे उपहास का सामना करना ही था। लेकिन गुरुवर केशवजी का जितना विश्वास मेरे कवि पर था उसने मुझे हमेशा के लिए मौन आत्म-विश्वास दिया।

मैं काशी छोड़ना नहीं चाहता था परन्तु सारे देश में उस समय जिस प्रकार के भीषण दंगे-फसाद, हत्याएँ, लूट-पाट तथा असुरक्षा की भावना थी उसमें वहाँ रहना दुश्वार कर दिया था अतः फिर बिना सोचे समझे, निरवलंब स्थिति में बरास्ता लखनऊ, इलाहाबाद के लिए चल पड़ा। लखनऊ में मेरे चचेरे भाई नन्दकिशोर भट्ट, जो बाद में राज्य-सभा के सांसद हुए, मेरिस म्युजिक कालेज में संगीत सीख रहे थे। सोचा कि इनसे मिलता हुआ इलाहाबाद चला जाऊँगा। लखनऊ पहुँच कर सबसे पहले तो गत सात-आठ वर्षों की अपनी पहचान से मुक्ति पायी। मतलब उज्जैन-काशी में मेरे बड़े बाल हुआ करते थे और एक प्रकार से मैं इसके द्वारा ही जाना जाता था। बड़े बालों को लेकर कई दिलचस्प वाकये हुए थे, परन्तु उनका लेखन से कोई संबंध नहीं था इसलिए उनकी चर्चा अनावश्यक है। लखनऊ आने पर दस-पाँच दिनों में ही गाँठ की पूँजी समाप्त हो गयी। भाई स्वयं एक स्कूल में छोटी सी टीचरी करते हुए संगीत सीख रहे थे। निश्चित ही मेरे पहुँच जाने से उन्हें आत्मीय सुख चाहे जितना हुआ हो लेकिन आर्थिक असुविधा भी कम नहीं हुई होगी। होटल से एक ही थाली खाने की मँगवायी जाती थी जिसे हम मिलकर खा लिया करते थे। पैसों की जुगाड़ के लिए मैं चिंतित था। उन दिनों रेडियो पर गिरिजाकुमार माथुर प्रोग्राम-आफीसर हुआ करते थे। चूँकि उनकी ननिहाल शाजापुर में थी इसलिए भी उनसे परिचय हुआ। वह सहृदय व्यक्ति जरूर थे लेकिन रेडियो की अपनी सीमा भी थी। इसलिए दो-चार महीनों में यदा-कदा वार्ता आदि का कार्यक्रम मिल जाता लेकिन इतना पैसा कभी नहीं जुटा सका कि उसे लेकर मैं इलाहाबाद चला जाता। चूँकि बनारस में नन्ददुलारे वाजपेयी के सागर चले जाने से मेरा पी० एच० डी० का काम अधूरा रह गया था और मैं उसे इलाहाबाद में पूरा करना चाहता था, परन्तु इच्छा अपूर्ण ही रह गयी। दो-एक महीने बाद ही दशहरा आया। भाई ने दशहरे पर शाजापुर जाने का कार्यक्रम बना लिया। जाते हुए आश्वासन दे गये कि दस-पन्द्रह दिनों में वह लौट आएँगे, लेकिन उसके बाद दिन पर दिन गुजरते गये और वह नहीं ही लौटे। उन्होंने अपना रास्ता चुन लिया था और मैं लखनऊ में फिर अकेला पड़ गया।

उन दिनों अखबार और पत्रिकाएँ कविताओं के लिए कुछ भी पारिश्रमिक नहीं दिया करती थीं। लेख या क़हानियों पर भी दस-पन्द्रह रुपये बहुत हुआ करते थे। चूँकि मैं कवि-सम्मेलन का भी कवि नहीं था इसलिए भूले चूके ही वहाँ से कुछ प्राप्ति हो जाया करती थी। केवल रेडियो ही एकमात्र स्रोत हो सकता था लेकिन इसके लिए कितने और कैसे-कैसे पापड़ बेलने पड़े वह सब आज दिलचस्प लग सकता है परन्तु उन दिनों तो वह जानलेवा संघर्ष था। पूरा लखनऊ पैदल नाप कर जाना पड़ता था। कई बार पूरे-पूरे दिन बिना खाये रह जाना पड़ता था तथा और भी बहुत कुछ प्रिय-अप्रिय भी करना-सहना पड़ता था लेकिन उन दिनों भी इस सबका कोई मलाल नहीं था क्योंकि एक तो मैं अब तक काफी कुछ झेल चुका था और कहीं यह विश्वास था कि यह सारी विषमता एकदिन अवश्य समाप्त होगी। वैसे किसी भी व्यक्ति को दोष देना व्यर्थ है। सबकी अपनी सीमा होती है, गिरिजाकुमार माथुर की भी थी। लेकिन जब हम सीमा की बात करते हैं तब क्यों नहीं सामने वाले की सदाशयता और मानवीयता को देखते? और दो वर्षों के इस संघर्ष का अंत अगत्या रेडियो में कार्यक्रम-अधिकारी की मेरी नियुक्ति से हुआ। वैसे जीवन में क्यों और कैसे के प्रति उत्कंठा स्वाभाविक है लेकिन बहुत अधिक चिह्न-चेष्टा भी नहीं करनी चाहिए। हाँ, इस प्रसंग में एकमात्र बात जो आज भी कसक देती है वह थी कि इंटरव्यू देने के लिए दिल्ली जाना था और इसके लिए मुझे अपनी माँ की एकमात्र अंगूठी गिरवी रखनी पड़ी, जिसे फिर कभी नहीं छुड़वा सका। वैसे आज भी विश्वास नहीं आता कि मैं कैसे रेडियो के लिए चुन लिया गया था। उस दिन साक्षातकर्ताओं की भीड़ में मैं अपने को सर्वाधिक अप्रासंगिक अनुभव कर रहा था क्योंकि अधिकांश के पास राजनेताओं तथा दिग्गजों की संस्तुतियाँ तथा सिफारिशें थीं और मेरे पास सिवाय स्व के और कुछ नहीं था। शायद इसी हताशा में मैंने इंटरव्यू में भी काफी बेसिरपैर के जवाब दिये थे और वहाँ से निकलकर तब मैं सीधे हरिद्वार अपने मित्र पूर्णगिरि गोस्वामी के यहाँ चला गया था। एकाध महीने बाद एक दिन रेडियो के स्टेशन डायरेक्टर श्री मलिक ने मुझे बुलाकर रेडियो में मेरे ले लिये जाने पर बधाई दी तो मैं स्तब्ध रह गया। मेरे लिये यह अविश्वसनीय था लेकिन हम नहीं जानते कि जीवन में कभी-कभी अविश्वसनीय भी घटित हो जाते हैं।

लखनऊ में उन दिनों खासे लेखक हुआ करते थे। यों तो ''माधुरी'' पत्रिका अपनी अंतिम साँसें ले रही थी परन्तु उसके सम्पादक रूपनारायण पांडे का कुछ तो दबदबा था ही। यशपालजी सबसे प्रमुख हुआ करते थे। भगवती चरण वर्मा भी कलकत्ते की सारी गतिविधियाँ छोड़कर लखनऊ आ गये थे। इसी क्रम में अमृतलाल नागर भी उदयशंकर की ''कल्पना'' फिल्म तथा अन्यान्य फिल्मों के बाद साहित्यिक लेखन हेतु लखनऊ आ बसे थे। डा० देवराज विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे और एक साहित्यिक पत्रिका निकालने की योजना बना रहे थे। रेडियो में गिरिजाकुमार थे ही। कालांतर में भारत भूषण अग्रवाल भी हाथरस की ''बिजली'' मिल की कारकूनी छोड़कर रेडियो में ''स्क्रिप्टराइटर'' बनकर आ गये थे। स्थानीय लेखकों में कुँवर नारायण, रघुवीर सहाय, कृष्णनारायण कक्कड़ आदि थे। इन हिन्दी लेखकों के अलावा लखनऊ वस्तुतः उर्दू लेखकों का गढ़ था। बुजुर्ग नियाज फतेहपुरी से लेकर डा० अलीम आले, अहमद सुरूर,मजाज़, सलाम मछली शहरी, रजिया जहीर जैसे कई नामी-गरामी अदीब थे। वस्तुतः साहित्य और साहित्यिक जमात का पहला अहसास लखनऊ में ही हुआ। प्रगतिशील लेखक संघ की बैठकें प्रायः यशपालजी के ''विप्लव'' कार्यालय में हुआ करती थीं। कभी-कभी हिंदी-उर्दू की सम्मिलित बैठकें भी हुआ करती थीं। उर्दू में तो नहीं लेकिन हिंदी लेखकों में धीरे-धीरे प्रगतिशील लेखक संघ के गैर साहित्यिक रवैये से असंतोष होने लगा। फलस्वरूप ''लखनऊ लेखक संघ'' की स्थापना में अच्छे खासे लेखक शामिल हुए। परन्तु कुल मिलाकर यह विभाजन बहुत स्पष्ट नहीं था क्योंकि अधिकतर लेखक सभी गोष्ठियों में आते-जाते थे। रोज-शाम को लखनऊ काफी-हाउस में कोने की मेज पर लेखकों का जमघट होता। जहाँ लोगों की अमूमन खिंचाई ही ज्यादा होती। मैं चूँकि हसनगंज में रहता था और मजाज़ न्यू-हैदरबाद में रहते थे और ये दोनों मुहल्ले गोमती पार थे इसलिए काफी-हाऊस से हम लोग प्रायः साथ ही उठा करते थे। चूँकि मजाज़ भी अकेले थे इसलिए उन्हें भी मेरी तरह घर लौटने की कोई खास जल्दी नहीं हुआ करती थी। रात में जब 'कपूर' में खाना खाकर बाहर आते तो दस-ग्यारह तो बज ही जाया करते थे। उसके बाद हम दोनों कभी पैदल तो कभी रिक्शे पर लौटते। आज भी लगता है कि मजाज़ जैसा पुरलुत्फ ही नहीं सदाशयी व्यक्ति मिलना दुर्लभ है। हालाँकि मजाज़ किसी को बख्शना नहीं जानते थे परन्तु कभी उन्हें अमानवीय आचरण करते भी नहीं देखा। मैं साहित्य की आरंभिक सीढ़ियों पर ही अभी था जबकि वह उर्दू अदब की बुलंदियों पर थे परन्तु हैसियत के इस अन्तर को उन्होंने कभी व्यक्त नहीं होने दिया बल्कि स्वीकार भी नहीं किया। लखनऊ में ही यह समझ में आने

लगा कि साहित्य एक चीज है और साहित्य की राजनीति दूसरी चीज है। साहित्य में बने रहने या पहचान बनाने के लिए इस राजनीति से बचा नहीं जा सकता और जब जिस चीज से बचा नहीं जा सकता तो उसके लिए अपने पास उपयुक्त अस्लाह, हरबे-हथियार होने जरूरी हैं। यह बात अब बहुत स्पष्ट हो चली थी कि प्रगतिशील लेखक संघ साहित्य से ज्यादा, साहित्य का राजनीतिक मंच है। उसकी प्रतिबद्धता साहित्य से नहीं बल्कि कम्युनिस्ट पार्टी से है।

उन दिनों प्रयाग से अज्ञेयजी ''प्रतीक'' द्वैमासिक निकाला करते थे परन्तु वह भी अंतिम साँसें ले रहा था। अज्ञेय प्राय: लखनऊ आया करते थे। उनके आने पर साहित्य का राजनीतिक मीजान थोड़ा गड़बड़ा जाया करता था, लेकिन बहुत ज्यादा तब भी नहीं। वात्स्यायन स्वयं भी साहित्य में काफी-कुछ निर्मिति के स्तर पर ही थे। वह कुछ वर्ष पूर्व ''तार-सप्तक'' का संपादन करके तथा 'प्रतीक' के द्वारा एक नयी काव्य-धारा, आधुनिक चेतना की संभावनाओं को मूर्त करने का प्रयास कर रहे थे। ''प्रतीक'' द्वैमासिक का प्रकाशन इसी दिशा में महत्वपूर्ण था। उनके चारों ओर धीरे-धीरे लेखक जमा होने लगे थे। लखनऊ का विधायक-निवास, जो कि 'दारुलशफा' कहलाता था, बन रहा था यहीं भारतभूषण अग्रवाल रहा करते थे। भारतजी से वात्स्यायनजी की थोड़ी निकटता थी इसलिए वात्स्यायनजी वाली गोष्ठियाँ दारुलशफा में हुआ करती थीं। इसका संदर्भ कुछ तो ''शब्द पुरुष, अज्ञेय'' में आ ही चुका है। एक बार वात्स्यायनजी अपना नया संग्रह 'हरी घास पर क्षण भर' लेकर लखनऊ आये। प्रयोगवादी या आधुनिक कविता का यह पहला संग्रह था, जो काफी चर्चित हुआ। इस बीच मैं भी अपनी आधारभूत वैदिकी भूमि की कविताओं के स्थान पर आधुनिक तथा प्रगतिशील कविताएँ करने लगा था। ''समय-देवता'' का प्रारंभ भी इन्हीं दिनों हुआ। इस अवधि की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी जो कि मेरे रेडियो में आने के पूर्व की थी, इलाहाबाद में प्रगतिशील लेखक संघ का दूसरा अधिवेशन। इसका सन्दर्भ भी अज्ञेयवाली किताब में थोड़े विस्तार से हो चुका है। यह अधिवेशन वामंपथी लेखकों का सबसे बड़ा आयोजन था। इसमें तत्काल रूस से लौटे राहुलजी भी शामिल हुए थे। पूरे अधिवेशन के समय किसी भी सत्र में साहित्य के बारे में स्वतंत्र विचार नहीं हुआ। मार्क्सवादी राजनीतिक दृष्टि से साहित्य को वर्गीकृत किया जाता रहा। समाज, इतिहास और संस्कृति की वामपंथी राजनीतिक समझ ही प्रस्तुत की जाती रही। भारतीय साहित्य तथा सांस्कृतिक चेतना और सर्जनात्मक उपलब्धियों को सामंतवादी, जनविरोधी सिद्ध किया गया। वहाँ पर सारे समय में आक्रोश बना रहा कि ऐसी जमात और

लेखकों के बीच क्या मेरे जैसों की कोई स्थिति संभव हो सकती है? ये लोग जो व्याख्याएँ और विश्लेषण दे रहे थे उसका निष्कर्ष तो यही हो सकता था कि आज तक की सारी भारतीय सर्जनात्मक उपलब्धि का कोई अर्थ नहीं। मार्क्सवाद की यह कैसी वैज्ञानिक दृष्टि थी कि साहित्य, संस्कृति और दर्शन-चिन्तन का नितान्त अवैज्ञानिक सरलीकृत निदान प्रस्तुत किया जा रहा था और वह भी उन लोगों के द्वारा जिनका साहित्य और समाज में कोई अस्तित्व ही नहीं था। यह वामपंथी राजनीति का भीड़वाद था जो संख्याबल के जोर पर सृजनात्मक क्षेत्र में अपने को प्रतिष्ठापित करने में लगा हुआ था। सेमेटिक दर्शन-चिन्तन का भी तो यही चरित्र है। वस्तुतः मार्क्सवाद इसी सेमेटिक कट्टरवादिता का राजनीतिक स्वरूप है।

निश्चित ही लौटकर मन खिन्न था परन्तु मैं अभी लेखन और वैचारिकता किसी भी दृष्टि से अलग खड़े होने की स्थिति में नहीं था लेकिन मन ही मन इनकी गिरोहवादी मनोवृत्ति तथा अपनी सृजनात्मक आकांक्षाओं के पार्थक्य को अनुभव करने लगा था। वैसे मैं आधे मन से प्रगतिशील लेखक संघ के साथ था। इन्हीं दिनों वात्स्यायन ''दूसरा सप्तक'' की योजना लेकर आये और कालांतर में मुझे उसमें सम्मिलित कर लिया गया। इस बीच मैंने अपना उपन्यास ''डूबते मस्तूल'' लखनऊ में लिख लिया था, और तभी कम्युनिस्टों का 'फेलो ट्रेवलर' होने के कारण मेरा तबादला इलाहाबाद कर दिया गया। मैं जिस प्रकार काशी नहीं छोड़ना चाहता था उसी प्रकार लखनऊ भी नहीं छोड़ना चाहता था पर प्रवाह था कि मुझे बाध्य होकर बहना पड़ रहा था। लखनऊ का छोड़ना मेरे व्यक्ति को काफी मँहगा पड़ा लेकिन उस सबकी चर्चा इस प्रसंग में अनुचित होगी लेकिन सबसे बड़ी बात लखनऊ के प्रवास की यह थी कि साहित्यिक वयस्कता भी आ चली थी। वैसे मुझे लेकर अनेक सही-गलत प्रवाद लखनऊ में फैले हुए थे। काशी में मैं जिस प्रकार अनेक बंगाली परिवारों और महिलाओं के संपर्क आया उसी प्रकार लखनऊ में भी मैं भावनात्मक संपर्कों में आया जिसके कारण मैं तथा मेरा लेखक दोनों ही समृद्ध हुए।

यह कैसा योगायोग था कि जिस इलाहाबाद पहुँचने के लिए मैं शुरू से ही आतुर था वहाँ इतने वर्षों बाद और वह भी न जाने कितने पापड़ बेलने के बाद पहुँच सका। हालाँकि यहाँ कोई ऐसी आत्मीयता भी नहीं थी जिसके लिए लालायित होता परन्तु उन दिनों इलाहाबाद साहित्यिक-मक्का था। सारे बड़े आधुनिक लेखक यहाँ थे। हालाँकि ''दूसरा सप्तक'' का प्रकाशन अभी नहीं हुआ था लेकिन उस संकलन के एक कवि के रूप में मेरी ख्याति यहाँ पहुँच चुकी थी पर साथ ही यहाँ के स्थानीय 'परिमल' के लेखक मुझे प्रगतिशील लेखक के रूप में ही जान रहे थे। शुरू-शुरू में मैं अमृतराय के साथ ही रहा। हालाँकि खाने-पीने का प्रबंध बी० एन० रामा में था लेकिन डेरा, मिंटो रोड पर अमृत के घर डाले हुए था। अमृतराय प्रगतिशील खेमे के वैसे ही सरदार थे जैसे बलूची अफगानी जिगरों के सरदार होते हैं। महादेव साहा, प्रकाश चंद्र गुप्त, नागार्जुन, शमशेर, भैरव प्रसाद गुप्त से लेकर नये से नये प्रगतिशील लेखक-आलोचक अमृत के यहाँ आते थे। पास ही इलाचंद्र जोशी तथा श्री कृष्णदास भी रहा करते थे। चूँकि मैं रेडियो में था इस कारण सभी लोगों से भेंट होती थी। दूसरी ओर स्थानीय लेखकों की ''परिमल'' संस्था और उसके शीर्ष-पुरुष धर्मवीर भारती के महत्व तथा प्रशस्ति से अवगत हुआ। वर्षों तक कम्युनिस्ट पार्टी का ''फेलो ट्रेवलर'' रहा और यहाँ आने पर जब एक दिन मुझे पार्टी का ''कार्ड होल्डर'' बना दिये जाने की सूचना मिली तो थोड़ा चकित हुआ। क्योंकि अपनी ओर से तो मैं निश्चित ही विश्वसनीय कम्युनिस्ट नहीं था लेकिन पता नहीं कैसे पार्टी ने मुझे इसके योग्य समझ लिया। जो हो, इसका नतीजा यह हुआ कि अब मैं पार्टी की अंतरंग सेल-मीटिंगों में हिस्सा ले सकता था। ऐसी मीटिंगें या तो जानसनगंज वाले पार्टी कार्यालय में होतीं या फिर पी० सी० जोशी अथवा प्रकाशचंद्र गुप्त के घर पर होतीं। पी० सी० जोशी वर्षों तक पार्टी सेक्रेटरी रहे। बाद में जब पार्टी ने बी० टी० रणदिवे की 'हार्डलाइन' को स्वीकारा तो जोशी बंबई से इलाहाबाद चले आये और नेमीचंद्र जैन, जो कि 'आधुनिक पुस्तक भंडार' चलाया करते थे की सहायता से तथा ओ० पी० संगल के सहयोग से ''इंडिया टुडे'' नाम से एक पत्रिका अंग्रेजी में निकालने लगे। इन सारी गतिविधियों के कारण उत्साह अवश्य था और कभी-कभी लगता कि मैं एक बड़े मिशन,

आंदोलन के साथ भले ही लेखन के द्वारा उतना न जुड़ पा रहा होऊँ परन्तु व्यक्ति के रूप में तो हूँ ही। इलाहाबाद के दो-अढ़ाई वर्ष के इस अल्प प्रवास में समझ गया था कि यहाँ प्रगतिशीलों और परिमलियों के बीच खासी लाग-डाँट है। रेडियो में होने के कारण परिमल वाले मुझे भी अपनी मीटिंगों में बुलाते थे। इन मीटिंगों में भी थोड़ी-बहुत राजनीतिक चर्चाएँ होती थीं परन्तु अधिक झुकाव लेखन और साहित्य पर ही होता था। चूँकि ये लोग मुझे कम्युनिस्ट मानते थे, जो कि मैं उन दिनों था भी, इस कारण हम निकट नहीं हो सके। मैं वस्तुतः अभी भी द्विधा की मानसिकता में था। अमृत, शमशेर, भैरव, प्रकाशचंद्र गुप्त, नेमीचन्द्र जैन आदि के साथ रोज का उठना-बैठना था जबकि परिमल वालों के साथ काफी-हाऊस में बैठकर साहित्यिक शतरंज की बाजियाँ होती थीं। वस्तुतः परिमल चूँकि स्थानीय संस्था थी इसलिए इसके सारे सदस्य कुछ पारिवारिक और कुछ आत्मीयता के सूत्र में बँधे हुए थे और फिर कम्युनिस्ट विरोध का मूल मुद्दा तो था ही। विरोध का यह मुद्दा शायद भारती के सन्दर्भ में ज्यादा अहम था। इनके अलावा भी अनेक बड़े-छोटे कवि, लेखक थे इलाचंद्र जोशी, रामकुमार वर्मा, उपेंद्रनाथ अश्क, शांति मेहरोत्रा, बलवंत सिंह आदि। नये लेखकों में मार्कण्डेय, कमलेश्वर, दुष्यन्त, अजित कुमार अभी आरंभ ही कर रहे थे। मतलब यह कि इलाहाबाद का साहित्य में दबदबा था।

इसी बीच सरकार तक मेरे कम्युनिस्ट पार्टी के मेंबर होने की सूचना पहुँची या पहुँचा दी गयी थी। मुझे मालूम है कि किन महाशय ने यह कार्य सम्पन्न किया था। क्योंकि जिस सेल-मीटिंग का हवाला दिया गया था उसमें पार्टी के ही वह सदस्य मौजूद थे, जो मित्र भी थे, लेखक भी थे, साथ ही रेडियो में सहकर्मी भी थे। वैसे सरकार को मेरे संबंधों की कुछ भनक लखनऊ से ही हो चुकी थी परन्तु प्रमाण इलाहाबाद में प्रस्तुत किया गया। और उन दिनों के डायरेक्टर-जनरल सी० बी० राव ने, जो कि हिन्दी के कवि भी थे, जाँच पड़ताल के बाद मेरा तत्काल तबादला नागपुर कर दिया। एक अजीब उखड़ा-उखड़ापन अनुभव कर रहा था। अभी मैं कहीं पर अपनी जड़ें जमाने की चेष्टा करता ही होता कि अपना बोरिया-बिस्तर उठाकर वहाँ से चल देने के लिए बाध्य हो जाता। कारण बहुत स्पष्ट थे। इलाहाबाद में हर ग्रुप के अपने दुराग्रह थे। जानबूझकर परिमल के लेखक अपने प्रसारण में प्रगतिशीलों के बारे में अनपेक्षित आक्रमण करते तो प्रगतिशील बन्धुगण, रेडियो की नीतिवश आलेख में जो काट दिया जाता था उसे भी पढ़कर समझते कि उन्होंने कोटा-बूँदी फतह कर ली। नतीजा होता था कि सारी

जवाबदेही मुझे करनी होती थी। अत: मित्रों की इन 'कृपाओं' का भी खासा हाथ रहा कि मुझे नागपुर जाना पड़ा। अब मैं समझ रहा था कि रेडियो की यह नौकरी ज्यादा दिनों नहीं चल सकती। मैं जिस दुर्धर्ष संघर्ष तथा परिस्थितियों से होकर आया था उसमें इस सम्भ्रान्त नौकरी को दाँत से पकड़ कर रखना चाहिए था परन्तु मेरे भीतर का लेखक, स्वत्व ग्रहण करता जा रहा था। इलाहाबाद में जब भगवतशरण उपाध्याय, अमृतराय, इलाचंद्र जोशी तथा दूसरों को शुद्ध एक लेखक के रूप में जीते तथा व्यवहार करते देखता तो मुझे भी लगता कि क्या मैं स्वतंत्र लेखक नहीं बन सकता? आज यही कह सकता हूँ कि मेरा सोचना लौकिक और व्यावहारिक दृष्टि से यथार्थवादी नहीं था लेकिन चूँकि मैं अभी अकेला ही था इसलिए ऐसा निर्णय ले सकता था। शायद कुछ ज्यादा ही अपने युवा-उत्साह में मैंने अपने जीवन के यथार्थ को वायवीय आदर्शवादिता के सामने खड़ा कर दिया। निश्चित ही व्यावहारिक दृष्टि से यही कहा जाएगा कि स्वतंत्र लेखन का निर्णय, खासी संभावनावाली सरकारी नौकरी के मूल्य पर आत्मघात जैसा ही था। परन्तु ऐसे निर्णय युवाकाल में ही संभव होते हैं। ऐसा लगता है कि अकेलेपन का जो भाव बराबर मेरे साथ रहा वही अब शक्ति बनकर मुझे प्रशांत महासागर में छलाँग लगा जाने के लिए प्रेरित कर रहा था लेकिन अभी एक वर्ष मुझे और प्रतीक्षा करनी थी और यह प्रतीक्षा नागपुर में करनी थी तथा मुक्तिबोध जैसे परम आत्मीय के सान्निध्य में सब कुछ सम्पन्न होना था।

मुक्तिबोध पर लिखित ''मुक्तिबोध, एक अवधूत कविता'' अपनी पुस्तक में यह मैं स्पष्ट कर चुका हूँ कि मुक्तिबोध से नागपुर में भेंट होने के पूर्व तक हमारा संबंध विरोध जैसा था। मैं उस सबकी तफसील में नहीं जाना चाहता कि वहाँ कब, कहाँ और कैसे बीता। कई बार संलाप की स्थिति न बनने पर हम सामने वाले को गलत भी समझ लिया करते हैं। मुक्तिबोध और मैंने इस विषमता को समझा तभी तो एक वर्ष में हम खासे निकट हो गये जो कि वर्षों में नहीं हो पाते हैं। मुक्तिबोध तब भी तप रहे थे और मैं पुन: तपने की कगार पर पहुँच रहा था। उन्हें मेरे लेखन और स्वत्व को देखकर आश्चर्य होता था कि मैं कैसे कम्युनिस्ट हूँ जबकि उन्हें मार्क्सवादी होते हुए भी पार्टी का कार्ड-होल्डर न देखकर आश्चर्य होता था कि वह कैसे कम्युनिस्ट हैं? जबकि वास्तविकता यह थी कि वह मार्क्सवादी भूमि पर खड़े जरूर थे परन्तु लेखक पहले थे। इसी प्रकार भारतीयता या वैदिक परंपरा की भूमि पर मैं खड़ा जरूर था परन्तु लेखक पहले था। आखिर खड़े होने के लिए सभी को कोई न कोई भूमि तो चाहिए होती ही है ताकि लेखक

बना जा सके। यदि हमें अपने बीज के उपयुक्त भूमि किसी काल की मिल जाए, जो कि हमारी वानस्पतिकता को स्वरूपित और पल्लवित कर सके तो फिर इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि वह आधुनिक मार्क्सवाद है या प्राचीन वैदिकता है। भूमि, भूमि होती है। हमारी काल सीमा हुआ करती है, भूमि की नहीं और न उसकी उर्वराशक्ति की। सबकी अपनी-अपनी गति और दिशा होती है, वह तदनुरूप ही हो सकता है। उसी रूप में वह सार्थक हो सकता है। पर्वत की गतिशीलता है उसके स्थायी होने में जबकि नदी का स्थायीत्व है उसके निरन्तर चलने में। इस प्रकार यदि हम प्रकृति, सृष्टि की सत्ताओं की स्थिति को देखें-परखें तो देखेंगे कि सबके अपने-अपने तर्क और स्वरूप होते हैं। प्रयोजन तो एक ही है लेकिन वह परस्पर विरोधाभासों में अभिव्यक्त हो रहा है। यह विरोधाभास ही सृष्टि का समरसी स्वरूप और छंद है। हम चूँकि अपने सीमित क्षितिज के पार नहीं देख पाते हैं इसलिए सामरस्यपूर्ण तात्विकता को नहीं देख पाते। न विचार, न जीवन, किसी भी क्षेत्र में कोई दो पूरी तरह एक जैसे नहीं होते। सबका अपना अलग अक्षांश और देशांतर होता है। सब अपने अनभिव्यक्त सृजनात्मक स्वत्व से निर्देशित तथा निरूपित होते हैं। सबकी अभिव्यक्ति एक को ही अभिव्यक्त कर रही होती है भले ही उसका स्वरूप और प्रकार जो भी हो। सब एक-दूसरे के प्रतिपूरक हैं इसलिए सर्जक अस्वीकार की भूमि पर खड़े होकर रचना नहीं कर सकता। किसी भी विचार की तेजसता को अस्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। असहमति का अर्थ अस्वीकारना नहीं होता। हम जहाँ खड़े हैं वहाँ से हमें तत्व वैसा दिखलायी दे रहा है, पर यह तो आज की स्थिति है लेकिन कल यदि उस विचार और हमारे बीच दूरी या दिशा बदल जाए तब भी क्या हम अड़ियल असहमति पर टिके रहना चाहेंगे? ऐसा ही हुआ कि मार्क्सवादी मुक्तिबोध आग्रह करके मुझे वर्धा ले गये। उस गाँधी के आश्रम ले गये, जिसे आज भी वामपंथी अपनी ओछी निष्ठा के साथ कोसते रहते हैं।

जिस दिन मैं रेडियो से अलग हुआ मुक्तिबोध निश्चित ही मर्माहत हुए थे। कोई भी आत्मीय मर्माहत ही होता। निश्चित ही मेरे स्वतंत्र लेखन के निर्णय के बारे में वह पिछले एक वर्ष में कई बार सुन चुके थे। स्वतंत्र लेखन की वास्तविकता तथा विभीषिका में से वह काफी गुजर चुके थे इसलिए लगातार वह इस कोशिश में रहे कि मेरी भी बात रह जाए और रेडियो भी न छोड़ना पड़े। इसलिए जब तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण मंत्री बालकृष्ण केसकर, जिनसे मैं व्यक्तिगत रूप से भी परिचित था, ने मुझसे लिखित रूप में केवल इतना ही आश्वासन चाहा था कि मैं भविष्य में

इस वामपंथी राजनीति से कोई संबंध नहीं रखूँगा, तब मुझे ऐसा करना गलत लगा। इसलिए नहीं कि वामपंथी राजनीति के प्रति मैं समर्पित था। मैं ऐसा लिखकर देना अनैतिक समझता था, साथ ही मैं इसलिए सहमत नहीं हो सका क्योंकि ऐसी कोई शर्त स्वीकारना उचित नहीं। मैं स्वेच्छा से पार्टी से अलग हो जाऊँ, जो कि बाद में हुआ, तो ठीक हो सकता था लेकिन जबतक मैं पार्टी सदस्य हूँ, उसके मूल्य पर नौकरी को बचाना कायरता होती। मैंने इस बारे में मुक्तिबोध से कोई खास परामर्श नहीं किया होगा क्योंकि आत्मीयतावश सम्भव था वह मुझे शर्त स्वीकारने के लिए कहते। मुझे उस समय लगा कि मैं हमेशा के लिए स्वतंत्र होने के मुहाने पर पहुँच चुका हूँ, जहाँ से मेरी लेखकीय यात्रा आरंभ हो सकती है।

पर अभी वास्तविक स्वतंत्र लेखन की यात्रा और मेरे बीच छह वर्षों की दूरी थी। दिल्ली का प्रवास बदा था तथा कुछ और प्रिय-अप्रिय अनुभवों के बीच से गुजरना भी शेष था। अतः नागपुर से सीधे इलाहाबाद जाने के बदले अपने भाई नन्दकिशोर भट्ट के आग्रह के कारण मुझे दिल्ली जाना पड़ा। आज ऐसा लगता है कि तब तक जेल से पूरी तरह मुक्त नहीं हो सका था बल्कि पेरोल पर ही स्वतंत्र हुआ था।

यह बता पाना किसी के लिए भी कठिन होगा कि दिल्ली, कितना शहर है और कितना इतिहास। इतिहास के विभिन्न दौर के खँडहर चारों ओर अपने टूटेपन और उजड़ेपन को ढोते ऐसे लगते हैं जैसे ये इतिहास के साँप की केंचुलें हैं। वस्तुतः दिल्ली शाश्वत उजड़ती साथ ही सनातन बसती हुई एक चरित्रहीन नगरी है। इतिहास से कहीं अधिक भयावह होता है इतिहास का टूटापन। काफी पहले से मैं यहाँ आता रहा हूँ और हर बार यहाँ से लौटकर एक अवांछित गन्ध अपने स्वत्व पर चिपकी लगी रह गयी होगी। रात आप किस अवांछित जगह से लौटे इसे खूँटी पर टँगे आपके कुरते की गंध से जैसे बताया जा सकता है, कुछ-कुछ ऐसा ही यहाँ से लौट कर लगता रहा है। कितना अजीब है कि इतनी शताब्दियाँ गुजर गयीं फिर भी न दिल्ली का उजड़ना कम होता है और न बार-बार बसने की जिजीविषा। इस बार जब मैं दिल्ली गया तो चारों ओर शरणार्थियों की भीड़ तो यथावत थी लेकिन सन् ४७, ४८ वाले तम्बुओं वाली बस्तियाँ धीरे-धीरे टिन की चद्दरों की खोलियों-कमरों की हैसियत में आ चली थीं। पूरा का पूरा पंजाब जैसे दिल्ली में उबल आया था। इस पंजाबी सैलाब में इतिहासों की क्रूरता से बचा-खुचा दिल्लीपन हमेशा के लिए दम तोड़ बैठा।

पार्टी की ओर से मुझे कनाट-प्लेस में मद्रास-होटल के पास ''भारत-सोवियत मैत्री संघ'' के कार्यालय का भार सौंपा गया था। सहयोगी के रूप में युगजीत नवलपुरी मिले हुए थे। राजनीतिक पार्टियों और ट्रेड-यूनियन के दफ्तरों से बढ़कर निष्प्राण और उबाऊ जगह दूसरी नहीं होती। इस कार्यालय में यों तो कोई काम नहीं था। सोवियत पत्रिकाओं और पुस्तकों की एकरूपता और एकरसता होती। दो-चार कामरेड किस्म के लोग आ जाते। दो-चार दिन के बाद से ही मुझे लगने लगा कि यह सब मेरे लिए असह्य है। वैसे असह्य तो 'आल इंडिया पीस कौंसिल' का आधुनिक दफ्तर भी था जहाँ रमेशचंद्र के साथ बाद में मुझे लगा दिया गया था। मैत्री संघ वाले कार्यालय में बीड़ी पीना कामरेडीपन का यदि सस्तापन था तो अजमेरी गेट वाले नफासत पसंद इस आधुनिक कार्यालय में विदेशी दमघोटूपन था। पार्टी के इन विपरीत स्वरूपों की वास्तविकता कभी समझ में नहीं आयी। जन के नाम पर कीचड़ में सने पैर और सत्ता की कालीन पर खड़े शक्ति के आसव में डूबे

व्यक्तित्व में क्या सचमुच ही क्रांतिकारी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी चिन्तन का कहीं सूत्र या कोई संबंध था? साम्यवादी देशों के दूतावासों की राजकीय पार्टियों और भोजों में तथा दूसरे पूँजीपति देशों के ऐसे अनुष्ठानों में क्या सच ही कोई अन्तर था? हाँ, यहाँ सारी राजकीय दिखाऊ सौम्यता और सौजन्यता के पीछे एक अविश्वास, एक भय अपनी उपस्थिति का अहसास, उन विशाल बड़े लाल परदों के रेशमी लटकेपन में देखा जा सकता था। जामा-मस्जिद के पास के पार्टी-आफिस की मीटिंगों में न जाने कैसी शातिर गंध होती, जैसे लगता कि इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं बल्कि इतिहास को जिबह किया जा रहा है। मुझे वह अंतिम सेल-मीटिंग आज भी याद है, क्योंकि उसके बाद कभी भी फिर ऐसी मीटिंगों में न तो बुलाया ही गया और न ही स्वतः गया। कह नहीं सकता कि उस मीटिंग में इतना तनाव कैसे आया। कामरेड फारुकी, जवाहर चौधरी, भीष्म साहनी, के अलावा भी चार-आठ सदस्य और भी थे। भारतीयता मात्र की जो और जैसी व्याख्याएँ की जा रही थीं वे असहनीय थीं परन्तु सिवाय कसमसाने के और कुछ किया भी नहीं जा सकता था। इसी क्रम में हिन्दी पर भी प्रहार होने लगा। ऐसा नहीं कि हिन्दी-उर्दू का मसला प्रगतिशील लेखक संघ की बैठकों में नहीं उठा करता था और वहाँ भी अप्रिय स्थिति नहीं होती थी परन्तु वह फिर भी सेल मीटिंगों की अपेक्षा खुला मंच होता था, लेकिन सेल-मीटिंगों में भिन्न राय या मत अभिव्यक्त करना बहुत-कुछ मतलब रखता था। उन्हीं दिनों राहुलजी हिन्दी का पक्ष लेकर राजनीति के दोमुँहेपन पर चोट कर रहे थे और इस कारण हमारे कामरेड बन्धुगण उनके भी विरुद्ध होने लगे थे। जिस व्यक्ति का कम्युनिस्ट परम सम्मान करते थे जब उसी ने हिन्दी के प्रश्न को लेकर उन लोगों से अपनी असहमति व्यक्त की तब ये सब खड्गहस्त होकर उनके भी विरोध में खड़े हो गये, तब भला उस सेल मीटिंग में मुझे कौन सुनता? मेरा कहना एक नगण्य के कथन जैसा ही होता। निश्चित ही उन लोगों की दृष्टि में मैं एक गंदी मक्खी जैसा ही था जिसके कारण महान क्रांतिकारिता का उजलापन गंदा हो रहा था। मुझे लेकर वर्षों से जो शंका और संदेह दबा-मुँदा था वह उस दिन सतह पर आ गया। आगाह की भाषा का भाव था कि यदि मैं दुनिया के एक मात्र क्रांतिकारी जीवन-दर्शन से तथा पार्टीतंत्र से सम्बद्ध रहना चाहता हूँ तो मुझे अपने भारतीय प्रतिक्रियावादी सोच, समझ और लेखन में परिवर्तन कर लेना चाहिए। निश्चित ही मेरे लिए 'यह पथ यहाँ से अलग होता है' की अंतिम तथा निर्णयकारी स्थिति थी। इतने वर्षों बाद न जाने कितनी और कैसी यात्रा, सृजनात्मक तथा चिंतनगत करके यहाँ पहुँचा हूँ परन्तु मैं हैरान हूँ कि उन दिनों के तथा बाद के ये सारे वामपंथी साथी आज भी साहित्य और

राजनीति में वहीं मार्क-टाइम कर रहे हैं। उनके लिए शायद चलने और क्रांति का यही अर्थ है—इतिहास के पृष्ठों पर निरन्तर मार्क-टाइम करो, चलो नहीं। प्रगति चलने का नहीं मार्क-टाइम का ही द्वन्द्वात्मक नाम है।

पार्टी की सेल-मीटिंगों में तो फिर कभी जाना नहीं हुआ लेकिन प्रगतिशील लेखक संघ की मीटिंगों में यदा-कदा जाना हो जाता रहा। असल में करौलबाग में रामकुमार और निर्मल वर्मा जहाँ रहते थे उससे थोड़ी दूर पर ही भैसों के तबेले से सटा एक स्कूल था। रविवार के दिन उस खाली पड़े स्कूल के एक कमरे में संघ की बैठक हो जाती थी। इन्हीं मीटिंगों में पहली बार भीष्म साहनी, कृष्ण बलदेव वेद, देवेंद्र इस्सर आदि से भेंट तथा परिचय हुआ। देश के बँटवारे का सबसे मर्मघाती प्रभाव दिल्ली पर हुआ था। चारों ओर दूर-दूर तक टूटे, बँटे, उजड़े पंजाबी परिवार टिन की छतों, टेन्टों या खुले आकाश के नीचे फैले थे। इतिहास के प्रवक्ताओं, श्रोताओं और व्याख्याताओं को मानवीय यातना के इस यथार्थ से कोई सरोकार नहीं था। ''किसका बेटा'' या ''वह मर्द थी'' इस बँटवारे की पृष्ठभूमि पर लिखी मेरी कहानियाँ भले ही कुछ को मार्मिक लगी हों लेकिन वस्तुत: वह मेरी अपनी सृजनात्मक भूमि नहीं थी। कोई भी चीज चाहे वह इतिहास या संस्कृति कुछ हो तब तक सृजनात्मक नहीं बन पाते जब तक आप उसमें से गुजरे न हों। बौद्धिक सहानुभूति के द्वारा राजनीति तो हो सकती है परन्तु लेखन नहीं। संघ की मीटिंगों में शरणार्थियों को लेकर ही ज्यादातर कहानियाँ होतीं। पंजाब से आये इन युवा-लेखकों की आधारभूत कठिनाई यह थी कि ये अपनी प्रादेशिक भाषा और सांस्कृतिकता के बाहर निकलकर चलना या सीखना भी नहीं चाहते थे। भले ही मातृभाषा हो पर सृजनात्मक अभिव्यक्ति के लिए उसे भी सीखना होता है। और इन लेखकों में से कोई भी हिंदी सीखने के लिए तैयार नहीं लगता था। पंजाब से आये सारे लेखकों में एक मात्र अज्ञेय ही ऐसे थे जिन्होंने इस तथ्य को स्वीकारा और विकास किया। शायद इसका कारण उनका पंजाब से बाहर रहना था।

रामकुमार और निर्मल वर्मा एक ही मकान में रहते थे। उन दिनों लोग छत पर बनी अपनी बरसातियाँ किराये पर उठा दिया करते थे। रामकुमार का स्टूडियो मकान की बरसाती में था जहाँ वह प्राय: होते और निर्मल नीचे के कमरे में। राम

और निर्मल में आकार-प्रकार की, तात्पर्य देहयष्टियों की भिन्नता थी इसलिए यदि लोगों को राम के किरायेदार होने का भ्रम होता तो क्या गलत था, जबकि राम बड़े भाई थे निर्मल के। उन दिनों राम अच्छे खासे कहानीकार के रूप में ख्यात थे। सारी प्रसिद्ध पत्रिकाओं में उनकी कहानियाँ छपा करती थीं जबकि निर्मल ने मुश्किल से एकाध कहानी ही लिखी थी। निर्मल का कमरा हम लोगों का अड्डा जैसा था। राम प्राय: घर से बाहर होते। वह प्रसिद्ध चित्रकार भी थे यह बाद में पता चला। उन्हीं दिनों भीष्म साहनी, निर्मल, रामकुमार और मनोहरश्याम जोशी के सहयोग से बड़े उत्साह के साथ ''साहित्यकार'' नामक एक पत्रिका आरंभ की। लेकिन इसके मात्र दो ही अंक प्रकाशित हो सके। पहला अंक प्रकाशित होने के बाद मेरे व्यक्तिगत जीवन में एक दुर्घटना लखनऊ में घटी, जिसने मुझे भीतर तक विचलित कर दिया। मेरा ध्यान बँटाने के ख्याल से भाई ने मुझे गांधी-प्रतिष्ठान से जोड़ना चाहा लेकिन वहाँ मैं काका कालेलकर के वर्चस्व को ज्यादा दिनों तक नहीं स्वीकार सका। उन दिनों मैं भावनात्मक हताशा से ग्रस्त था। कुछ गंभीर भी घट सकता था लेकिन इसी बीच कृष्णा सोबती से परिचय हुआ। दिल्ली के प्रवास में आत्मीयता की दृष्टि से सोबती का सान्निध्य न केवल प्रीतिकर ही था बल्कि काफी आत्मीय भी रहा। सोबती उन दिनों पुराने सेक्रेटिएट में दिल्ली राज्य के शिक्षा विभाग में थीं। मैं कैनिंग लेन में भाई के साथ रहता था। दोनों स्थानों में अच्छी खासी दूरी थी। फिर भी हम लोग प्रतिदिन नियमित मिलते। कभी-कभी मलकागंज वाले सोबती के घर भी जाना हो जाता था। सोबती ने उन दिनों एक मित्र की भाँति मेरी हताशा को काफी सहेजा। निश्चित ही सोबती एक अच्छी खासी विश्वसनीय मित्र थीं। अक्सर मैं दिल्ली से इलाहाबाद जाने की बात करता तो वह सहमत नहीं हो पातीं। सच तो यह था कि दिल्ली में बसने के ख्याल से मुझे नफरत थी। दिल्ली मुझे हमेशा ही खूँटी पर टँगी वेश्या की उस पोशाक जैसी लगती रही है जो कि रात में पहनी गयी थी। भाई ने मुझे नागपुर में दिल्ली चलने के लिए कहा था तब हम दोनों का ख्याल था कि मैं लेखन कर सकूँगा, परन्तु समय पर समय गुजरता गया और मुझसे लिखना ही नहीं हो पा रहा था। जब लिख नहीं रहा था तो आय का प्रश्न ही नहीं था। अत: मुझे हीले से लगाने के लिए भाई ने ''इंटक'' की ओर से ''भारतीय श्रमिक'' नामक एक साप्ताहिक का भार मुझे सौंप दिया जिसमें इंदौर के अक्षय मुद्‌गल सहायक बने। इसी बीच श्रीकांतवर्मा का एक पत्र बिलासपुर से आया। श्रीकान्त वर्मा नागपुर में दो-तीन बार रेडियो के कार्यक्रमों तथा अपनी पत्रिका ''नयी दिशाएँ'' के सिलसिले से मिल चुके थे। श्रीकान्त ने पत्र के द्वारा दिल्ली आने की इच्छा जाहिंर की। ''भारतीय श्रमिक'' में एक ओर सहायक के

रूप में बुलाये जा सकने की संभावना लिख भेजी। और वह एक दिन कंधे पर झोला टाँगे बिना किसी पूर्व सूचना के सामने आ खड़े हुए। कुछ ही दिनों में मैं समझ ले गया कि श्रीकान्त वर्मा एक तेज प्रवाह हैं और काफी जल्दबाजी में हैं—जीवन में भी और साहित्य में भी।

पिछली बार की ''साहित्यकार'' की योजना से भिन्न इस बार ''कृति'' की योजना बनी। इसके मुद्रण और वितरण का भार एक व्यावसायिक बुद्धि के महाशय को दिया जो कि ''इंटक'' कार्यालय में मैनेजर थे। ''कृति'' का प्रकाशन शुरू से महत्वपूर्ण बन गया। ''प्रतीक'' तो काफी पहले बंद हो चुका था। हैदराबाद से ''कल्पना'' का प्रकाशन भी बमुश्किल तमाम हो रहा था। केंद्रीय साहित्यिक पत्रिका का अभाव तो था ही साथ ही लघु पत्रिकाएँ भी कुछ खास नहीं थीं। इलाहाबाद से परिमल वालों का ''निकष'' भी बंद हो ही चुका था। ''नई कविता'' अनियतिकालीन रूप से काव्य के एक मंच के रूप में थोड़ी बहुत थी। ''कृति'' के साथ तत्कालीन अधिकांश महत्वपूर्ण कवियों-लेखकों का सहयोग था। साथ ही तब के सारे महत्वपूर्ण चित्रकारों के चित्र ''कृति'' के मुखपृष्ठ पर छपते थे। इस प्रकार ''कृति'' ने अच्छी ख़ासी केंन्द्रीयता प्राप्त कर ली थी।

इस बीच भाई का दबाव विवाह कर लेने के लिए मुझ पर बढ़ता गया और सन् ५७ में महिमा से विवाह भी हो गया। हालाँकि ''भारतीय श्रमिक'' से कोई खास वेतन नहीं मिल रहा था परन्तु अकेले के लिए ठीक ही था। लेकिन विवाह के बाद स्थिति निश्चित ही भिन्न थी। विवाह के समय पत्नी कानपुर में प्राध्यापक थीं और मेरे कहने पर वह सब कुछ छोड़-छाड़ कर दिल्ली आ गयीं। जैसा कि अंग्रेजी में कहा जाता है कि जीवन किसी भी उपन्यास से कहीं अधिक औपन्यासिक होता है, इसे मैंने अपने विवाह के समय और बाद में अनुभव किया। मुझे ही वह सारा प्रसंग औपन्यासिक से भी ज्यादा अविश्वसनीय लगता है तब भला किसी अन्य को क्यों और कैसे विश्वास होगा। सामान्यत: तो हम सबकी मानसिकता तो यही होती है न कि कहीं ऐसा भी होता है?-और मैंने भरसक चेष्टा की कि पारिवारिक संबंध और अधिक न बिगड़ें। मैं शायद दिल्ली में न बसना चाहने पर भी दिलशाद कालोनी में एक मकान भी देख आया परन्तु हठात् मुझे लगने लगा कि इस प्रकार तो मैं दिल्ली में कभी भी लेखन नहीं कर पाऊँगा। दिल्ली में रहने का तर्क ही मुझे खटा देगा। लेखन के लिए जिस प्रकार की शांति की मेरी अपेक्षा है वह मुझे किसी भी मूल्य पर यहाँ नहीं मिल सकती। कोई दूसरी नौकरी, एक तो मिलेगी नहीं, दूसरे जिस तरह की नौकरी मैं चाहूँगा वह मिलना आसान नहीं है, तीसरे यदि नौकरी ही करनी थी तो रेडियो की नौकरी क्यों छोड़ी, लेखन के लिए ही तो।

और अगर दिल्ली के कारण लेखन संभव नहीं हो पा रहा है तो दिल्ली को क्यों नहीं छोड़ दिया जाना चाहिए? मेरी सर्जनात्मक वनस्पति के लिए दिल्ली उर्वरा भूमि नहीं थी। वैसे बाहर से साहित्यकार अब धीरे-धीरे दिल्ली आ रहे थे जबकि मुझे अपने भीतर कोई कहता लग रहा था कि अपनी भूमि की तलाश इलाहाबाद में ही करनी चाहिए।

किसी को मेरा इस प्रकार दिल्ली छोड़ना उचित नहीं लग रहा था। नेमी, सुरेश, श्रीकान्त, निर्मल या सोबती सबको मेरा यह निर्णय अव्यावहारिक ही लगा था। मैंने पत्नी महिमा से भी परामर्श किया और वह मेरा अनुसरण करने के लिए तैयार थीं। इस बार भी आर्थिक निरवलंबता तो थी ही परन्तु इलाहाबाद में जिन कम्युनिस्ट लेखकों से थोड़ी आत्मीयता थी वह मेरे पार्टी से अलग हो जाने पर भी आत्मीय बने रहेंगे, का विश्वास नहीं था। परन्तु अब मेरे लिए सिवाय आगे बढ़ने के और कोई मार्ग भी शेष नहीं था। वैसे स्टेशन तक नेमी, सुरेश और श्रीकान्त दिल्ली न छोड़ने के लिए समझाते रहे। यहाँ तक कहा कि इलाहाबाद जाने का अर्थ आत्मघात करना है। और मैंने हँसकर कहा भी था कि मनुष्य ही आत्मघात करते हैं, कोई बात नहीं। तब निश्चित ही नहीं पता था कि जीवन के दुर्दान्त ऊष्णकटिबंध में तो अब प्रविष्ट हो रहा हूँ और वह भी निरवलम्ब स्थिति में पत्नी के साथ। लोग बहुत हिसाब-किताब तथा मीजान मिलाकर गृहस्थी आरंभ करते हैं लेकिन मैं अपने आरंभ करने को कौन सी संज्ञा दूँ? जब ट्रेन यमुना-ब्रिज पार करके उस पार पहुँची तो मुझे न जाने क्यों अनायास एक स्फूर्ति लगी। मैं दिल्ली छोड़ नहीं रहा था बल्कि जैसे अपने पर से कुछ अवांछित उतार रहा था। पूरे छह वर्ष रहने के बाद भी जिस शहर में मैं कुछ भी खास लेखन नहीं कर सका उससे क्या मोह हो ही सकता था? हाँ, इलाहाबाद में एक घर था, जो कि एक माह पूर्व वहाँ जाकर देख आये थे और ताला लगा आये थे। ताले से शायद कह भी आये थे कि हम बहुत जल्दी यहाँ आ रहे हैं। शायद ताला ही इलाहाबाद में हमारी प्रतीक्षा कर रहा था।

उस रात ट्रेन में सोना न हो सका। दिल्ली छोड़ आया था या छोड़नी पड़ी थी, जो हो, दिल्ली से प्रत्येक क्षण दूर होता जा रहा था। एक अजीब कसैला सा स्वाद

लग रहा था। यह कैसी विषमता थी कि लगभग आधी आयु, तात्पर्य जीवनभर चार-चार या पाँच-पाँच वर्ष बिताते हुए कहाँ-कहाँ नहीं भटकता रहा। क्यों? शायद अपने लेखकीय स्वत्व के अश्वत्थ की भूमि तलाशते हुए। सब मिला होगा परन्तु अपनी वास्तविकता की भूमि नहीं मिली थी। अवचेतना में इलाहाबाद के प्रति बराबर ललक थी। उसी कारण आखिरकार उसके लिए निकल पड़ा था परन्तु पिछले सारे अनुभवों के परिप्रेक्ष्य में बहुत आश्वस्त नहीं था कि वहाँ भी अपनी भूमि मिल ही जाएगी। दिल्ली में जहाँ कृष्णा सोबती, निर्मल वर्मा, श्रीकान्त वर्मा, नेमी और सुरेश जैसे मित्रों की आत्मीयता मिली थी वहाँ अशोक वाजपेयी, अशोक सेक्सरिया, महेंद्र भल्ला जैसे नवोदित लेखक भी थे जिनसे संपर्क हुआ। न जाने क्यों संगीत नाटक अकादेमी की प्रतियोगिता मन में हल्की सी टीस दे जाती थी। अकादमी ने सामाजिक नाटक के लिए प्रतियोगिता की घोषणा की थी। मैंने भी "खंडित यात्राएँ" लिखा। परन्तु आश्चर्य तब हुआ जब निर्णय घोषित सामाजिक नाटक के पक्ष में न होकर एक पौराणिक नाटक के पक्ष में हुआ। निर्णयकारी, जो कि मित्र ही थे, महानुभावों ने क्यों ऐसा किया, समझ में नहीं आया क्योंकि उन्हें मेरा नाटक प्रिय भी लगा था। वह नाटक राजकमल छापने वाला था पर शायद वहाँ भी साहित्यिक राजनीति, जोड़तोड़ काम कर गयी और वे लोग साफ मुकर गये कि उन्होंने इसे छापने के लिए कहा था। साहित्य की राजनीति का यह एक अच्छा खासा अनुभव रहा। लेकिन तब भी न उन मित्रों और न राजकमल किसी के लिए भी कटुता नहीं आयी। राजकमल के ओमप्रकाशजी इस अप्रियता को दूर करना चाहते थे इसलिए कुछ समय बाद उन्होंने मेरा काव्य-संग्रह छापने की इच्छा प्रगट की। उन दिनों भी काव्य-संग्रह छपना कठिन ही होता था। राजकमल भी नये कवियों के संग्रह पैसा लेकर ही छापते थे। औरों से शायद थोड़ा ज्यादा लेते थे लेकिन मुझसे उन्होंने मात्र तीन महीने में वापस कर देने की शर्त पर छह सौ रुपये माँगे। मेरे लिए इतने रुपयों का प्रबंध करना समस्या ही था लेकिन पत्नी तथा मित्र जगदीश वाजपेयी ने यह रकम उपलब्ध करवायी। कालांतर में ओमप्रकाशजी ने भी समय से ही सारी रकम लौटा भी दी। हमारे बीच जो तनाव रहा होगा वह "बनपाखी सुनो' के प्रकाशन से धुल गया। आज भी मैं सोचता हूँ कि पत्नी ने किस मुश्किल से अपनी निहायत ही कमसिन जमा-जथा में से वह रकम निकाली होगी ताकि पति का साहित्यिक पथ और प्रगति का मार्ग प्रशस्त हो सके। पत्रिका "कृति" और काव्य-संग्रह "बनपाखी सुनो" को ही दिल्ली की उपलब्धि माना जा सकता था परन्तु क्या छह वर्षों के परिप्रेक्ष्य में इसे संतोषजनक माना जाना चाहिए, खास कर तब जब मैं स्वतंत्र लेखन के लिए रेडियो छोड़कर बाहर आया था? ऐसा

नहीं कि कुछ लिखने की चेष्टा नहीं की थी। ''प्रथम फाल्गुन'' उपन्यास भी शुरू किया था लेकिन पूरा न कर सका, अधर में ही लटका रहा। इसी प्रकार ''यह पथ बन्धु था'' का भी आरंभ हुआ परन्तु पच्चीस-तीस पृष्ठों के बाद लिखना न हो सका। निश्चित ही पारिवारिक विषमता भी कारण थी। आज ऐसा लगता है कि दिल्ली जाना और रहना पारिवारिक आत्मीयता की दृष्टि से मँहगा पड़ा। क्या मनुष्य अपने भवितव्य को पूर्व परिकल्पित कर सकता है? नहीं, यदि कर सकता होता तो बहुत सी विषमताओं से बच सकता था। परन्तु जब घटनाएँ, स्थितियाँ घटित हो जाती हैं तब हमारे हाथों में से पूरा गणित गुजर चुका होता है और हमारे हाथों में थरथराता छोटा सा जवाब होता है जिससे इंकार नहीं किया जा सकता, और हमारी कसी अँगुलियों में वह जवाब रद्दी कागज के टुकड़े की तरह गुड़ीमुड़ी होने लगता है।

इस तरह पूरी गत करवटें क्या बदलता रहा बल्कि जैसे पापड़ की तरह उलट-पुलट सिकता रहा और भोर के आलोक में मनौरी और हवाई-अड्डा आ गया, मतलब हम इलाहाबाद में प्रविष्ट हो रहे थे।

इलाहाबाद के अपने इस नये आवास ९९-ए, लूकरगंज में प्रवेश करते समय घर का ताला नहीं खोलना पड़ा। सूने घर ने नहीं बल्कि महिमाजी के माता-पिता तथा शमशेर जी स्वागत के लिए दालान में खड़े थे। महिमा के भाई श्रीकांत व्यास तो स्टेशन पर ही आ गये थे। सास-ससुर ने अपने बेटी-दामाद की गृहस्थी को सारी आरंभिकता से लैस कर रखा था। दो कमरों वाला यह घर ऐसा नहीं लग रहा था कि जैसे पहली बार यहाँ आना हुआ है और अभी परिचय होना शेष है। निश्चित ही मेरा और महिमा की गृहस्थी का यह पहला दिन था। जीवन में पहली बार एक जगह मिली जिसे हम अपना घर कह सकते थे। निश्चित ही निरवलंबता और अनाश्वस्ति के साथ जीवन आरंभ किया जाना था, और हो भी क्या सकता था? घर क्या था जैसे किसी ने रगड़-रगड़ कर मुँह धोया हो और कसकर पोंछ लिया हो, तब जो चमकीलापन मुँह पर आ जाता है वैसा ही, घर लकदका रहा था। भोजन के समय मुझे मालूम हुआ कि इस घर की यह सारी चमक तथा धोयापन शमशेरजी के कारण था। हमसे पूर्व इस घर में प्रसिद्ध बंगाली चित्रकार नंदन रहा करते थे। वह हमारे भी मित्र हुआ करते थे पर अब वह बंगलौर चले गये थे। वैसे बंगाली को उसके ड्राइंगरूम में ही देखना चाहिए न कि उसके ''रान्नाघर'' में। कितनी मुश्किलों से वह बंगाली रान्नाघर खुरच-खुरच कर सास और शमशेरजी ने साफ करके रसोईघर बनाया उसका वर्णन सुन कर शमशेरजी की सदाशयता और सरलता के प्रति विनम्र ही हुआ जा सकता था। वैसे सच तो यह भी है कि शमशेरजी की अपनी विधुर-गृहस्थी किसी अर्थ में बंगाली रान्नाघर से कम नहीं थी परन्तु शमशेर अपने से अधिक दूसरे के साफ-सुथरेपन के लिए पूरी तरह स्त्रियों की भाँति समर्पित और उत्सर्गित हो जाने वाले व्यक्तियों में से थे। हमारी सास को वह बहन मानते थे और महिमा को भानजी। इस आत्मीयता को उन्होंने जीवन भर निभाया भी। कालांतर में जब साहित्य में हमारे बीच दूरी आयी तब भी पारिवारिक आत्मीयता यथावत् ही रही।

और एक चटाई तथा चटाई पर दरी वाली गृहस्थी का यह पहला दिन कभी नहीं भूल पाता। घर में वस्तुहीनता थी परन्तु पूरे घर में हम दोनों के स्वत्व कैसे भरे-पूरे लगते। घर हममें था या हम घर में थे कहना कठिन था। दालान में

बैठकर कच्चे आँगन में पैर लटकाकर बैठा जाता तथा भावी सुखद दिनों की कल्पना में पूरी शाम बितायी जाती। जीवन में स्वप्न देखना कोई युवावस्था से सीखे। सामान था ही कितना जिसे सजाने में कोई कठिनाई होती। ले-देकर किताबें थीं जिन्हें दो अलमारियों में सजा दिया गया। कमरे के बीचोंबीच दरी बिछा दी गयी। बिजली का पंखा तो नहीं पर चौक से हाथवाले दो ताड़-पंखे खरीद लिये गये। घंटाघर से एक फर्शीमेज भी आ गयी ताकि लेखन किया जा सके। सच तो यह है कि घर को वस्तुहीन ही होना चाहिए, तभी स्वत्वीय फैला-फैलापन लगता है। आप इस कोने से उस कोने तक अपने को अनुभव कर सकते हैं। अपनी सफाई कर ली तो लगता है कि घर की सफाई हो गयी। मैं और महिमा पूरी समरसता के साथ एक-एक दिन जीते चले जा रहे थे। हमारे पास जो भी जमा-जथा थी वह रोज-रोज के नमक-हल्दी और कोयले के माध्यम से रिसती जा रही थी। धीरे-धीरे मुझे अपने पर से जैसे विश्वास उठता जा रहा था कि स्वतंत्र-लेखन करने का मेरा निर्णय क्या सही था? और यदि सही नहीं था तो अब क्या होगा? लौटने के लिए पीठ ओर कहीं कोई भूमि दूर-दूर तक नहीं थी। दिल्ली में लोगों ने इस आत्मघाती निर्णय के लिए कितना समझाया था। प्रत्येक दिन के बीतने के साथ जीवन की दुर्दान्त विभीषिका और निकट आ गयी लगती। अजीब दुरभि थी कि चाहते हुए भी लिखना ही नहीं हो पा रहा था। कई बार मन में आता कि स्वतंत्र-लेखन का निर्णय केवल जिद थी। लेखन तो किया जा सकता था क्येंकि वह यदाकदा की बात है लेकिन स्वतंत्र-लेखन शायद सबके बस की बात नहीं होती और कम से कम मेरे बस की बात तो नहीं ही है।

चार-छह महीने बीतते न बीतते पास की पूँजी लगभग शेष हो गयी। समझ नहीं पा रहा था कि अब कैसे क्या होगा। इलाहाबाद में सिवाय दैनिक ''भारत'' और ''अमृत प्रभात'' के और कोई अखबार नहीं था। पत्रिका के नाम पर ''माया'' थी। सामान्यत: मैं वैसे भी पत्रिकाओं में कोई खास कभी नहीं लिखता था। रेडियो से फीस और हिन्दी में अनुबंध-पत्र के प्रश्न को लेकर असहयोग जैसा था। प्रकाशन का कोई प्रश्न ही नहीं था। न तो कोई पुस्तक तैयार ही थी और तैयार होती भी तो क्या आसानी से प्रकाशक मिल जाता? इस गाढ़े समय में सुरेश अवस्थी ने हिन्दी निदेशालय की एक समिति का मेम्बर बनवा दिया। इसकी मासिक बैठकें होती थीं और कुल मिलाकर साठ-सत्तर रुपये मिल जाते थे। मैं शायद टूटने के बिन्दु की ओर बढ़ रहा था। अपने इस हाहाकार में थोड़ा-बहुत पत्नी के अतिरिक्त मैं किसी को सहभागी भी नहीं बना सकता था। लगभग दो वर्ष

हो रहे थे और मैं एक पंक्ति भी नहीं लिख पा रहा था। मैं अपने स्वभाव से परिचित था कि सायास नहीं लिख सकता। इस स्वभाव को लेकर मैं शायद कभी भी प्रचलित अर्थवाला स्वतंत्र-लेखन नहीं कर सकता। तो क्या फिर कोई नौकरी करनी होगी? मुझे लगने लगा कि जीवन की बाजी में मुझे प्यादे से न केवल शह बल्कि मात देने की कोशिश हो रही है। उस हारी स्थिति में क्या होगा? इलाहाबाद में अभी आया ही था और परिमल के समकालीनों ने मेरे यहाँ आने और केवल लेखन करने को जिस प्रकार लिया उसे परिभाषित न करना ही बेहतर है। सिविल-लाइन का वह चौराहा आज तक याद है जहाँ मेरे इलाहाबाद रहने और लेखन करने का एक स्वर से उन समकालीनों ने मजाक उड़ाया था कि देखें, तुम कैसे यह सब करते हो? अभी तक इन लोगों का भ्रम था कि मैं कम्युनिस्टों के साथ हूँ। जो हो, मैंने भी तुर्की बतुर्की जवाब दिया था कि आप लोगों से जो बने वह करना, देखता हूँ कैसे यह सब नहीं होता। लेकिन अन्तर में एक आतंक सा घिरने लगा कि असफलता की स्थिति में यदि फिर कोई नौकरी करनी पड़ी या यहाँ से जाने के लिए बाध्य होना पड़ा तो कहाँ जाऊँगा? और उस स्थिति में जो और जैसे किरकिरी होगी क्या उसका सामना कर सकूँगा?

वैसे मुझसे तो किसी ने कुछ नहीं कहा लेकिन पत्नी की बातों में आहट थी कि विवाह के चार वर्ष बाद भी हम माता-पिता नहीं बने थे। मैं समझ गया कि यह चिन्ता किसकी है। और जब एक दिन मुझे भावी के आगमन की सूचना मिली तो लगा कि मैं गृहस्थाश्रम की अगली सीढ़ी चढ़ने जा रहा हूँ। लेकिन इसका यह भी तात्पर्य था कि तब क्या मुझे नौकरी करनी ही पड़ेगी?

इलाहाबाद के अधिकांश समय वाचस्पतिजी पाठक की आत्मीयता मेरा बहुत बड़ा सम्बल रही। पाठकजी ने कुछ कहानियों के अलावा भले ही कुछ नहीं लिखा हो लेकिन एक तो ''भारती-भंडार'' से संबद्ध होने के कारण तथा अपने दबंग व्यक्तित्व के कारण इलाहाबाद ही नहीं बल्कि पूरे हिन्दी जगत के लेखकों पर उनका प्रभाव था। कौन ऐसा लेखक था जिनसे उनका संपर्क नहीं था। पुराने छायावादी लेखकों से लेकर ''नयी कविता'' के नवोदित कवियों तक से उनका संपर्क था। लोग उनका सम्मान भी करते थे। ''भारती-भंडार'' प्रकाशन संस्थान के

कारण प्रकाशन के क्षेत्र में भी उनका वर्चस्व था। निश्चित ही पाठकजी दबंग व्यक्ति थे। उनसे मैं रेडियो के समय से ही परिचित था और इस बार इलाहाबाद आने पर काफी निकटता हो गयी। उन्हें मेरी स्थिति का भान होने लगा था। मैं उनके पास प्रतिदिन जाता था। हम लोग साथ ही शाम को काफी-हाऊस जाते थे। उन्हें पता था कि यार लोग मुझे जमने नहीं देना चाहते हैं। चूँकि पाठकजी घर भी आ जाया करते थे इसलिए सारी विषमता सूँघ ले गये थे। संयोग से इलाचंद्र जोशी रेडियो की प्रोड्यूसरी से उन्हीं दिनों अलग हो रहे थे। मेरा रेडियो का पूर्व अनुभव था ही इसलिए सुमित्रानंदन पंत, जो कि चीफ प्रोड्यूसर थे, से मेरे बारे में पाठकजी ने कहा और पंतजी तैयार हो गये। मेरे सामने प्रस्ताव आया और फिर कैसे क्या हुआ, इसकी चर्चा अन्यत्र आ चुकी है इसलिए विस्तृति में दुहराना उचित नहीं होगा। मैंने जब पत्नी से इस प्रस्ताव की चर्चा की तो उन्होंने अपने तरीके से असहमति जतायी। मैं, जो कि लगभग टूट चुका था तभी तो नौकरी करने की सोचने लगा था। महिमा ने मेरे स्वत्व को, लेखकीय व्यक्तित्व को बुझने से ही नहीं बचाया बल्कि पुनः उत्साहित किया। कहा कि यदि नौकरी करनी ही पड़ेगी तो वह करेंगी, मुझे तो सिर्फ लेखन ही करना है। भले ही दो वर्षों में कुछ नहीं लिख पाया हूँगा परन्तु मुझे हताश नहीं होना है। और इस सबका नतीजा यह हुआ कि मैंने वह प्रोड्यूसरी इंकार कर दी। लेकिन इस बार मेरे जीवन का सबसे महत्वपूर्ण चमत्कार घटित हुआ। मैं जानता हूँ कि इस पर सहसा कोई नहीं विश्वास करेगा और करना भी नहीं चाहिए। इंकार करने के दूसरे ही दिन मैं लिखने बैठ गया। दिल्ली में ''यह पथ बन्धु था'' के पच्चोस-तीस पृष्ठ ही मुश्किल से लिखे गये होंगे और इस बार बाकी के साढ़े पाँच सौ पृष्ठ लगभग एक माह में लिख डाले। मेरे लिए भी यह सब अविश्वसनीय था। परन्तु महिमा के अलावा साथ रह रहे विपिन शर्मा भी इस अविश्वसनीयता के साक्षी हैं। यह सब हठात् घटित हो रहा था। इधर पुत्र ईशान के आगमन की तैयारी थी और मैं तेजी से पांडुलिपियाँ तैयार करने में लगा था। उपन्यास ''यह पथ बन्धु था'' के अलावा ''संशय की एक रात'' तथा काव्य संकलन, कहानी संग्रह, नाटक आदि मिलाकर आठ पांडुलिपियाँ तैयार हुईं। पांडुलिपियाँ तैयार करने में विशेषकर ''यह पथ बन्धु था'' में विपिन शर्मा ने जिस प्रकार एक अनुज की भाँति आचरण किया वह अद्‌भुत था। पूरे उपन्यास का पढ़ा जाना और उसे ठीक करना एक ऐसा अनुभव था जो आज भी रोमांचित कर जाता है। वर्षों बाद अपने भीतर लेखकीय आत्म-विश्वास जगा। मेरा ख्याल था कि आर्थिक विषमता से निबटने के लिए इतनी पांडुलिपियों पर हजार, दो हजार का अग्रिम तो मिल ही जाएगा। मैं इन्हें लेकर इलाहाबाद के तत्कालीन सभी प्रकाशकों

के पास गया पर कोई भी अग्रिम देने को तैयार नहीं हुआ। कोई उपन्यास छापने के लिए तैयार हुआ भी तो एक नये लेखक का बड़ा उपन्यास छापने के जोखम के कारण कतरा गया। मैंने इस बीच मोहल्ले के एक प्रसिद्ध लेखक-प्रकाशक बन्धु से केवल पाँच सौ अग्रिम पर सारी पांडुलिपियाँ देने की पेशकश भी की पर वह खासे हजरत थे। गालिब के शब्दों में ''मुफ्त का माल हाथ आये तो अच्छा है'' के वह कायल थे, खैर। इस बीच मैंने भारतीय ज्ञानपीठ के लक्ष्मीचंद्र जैन को तथा राजकमल के ओमप्रकाशजी को भी पत्र दिये थे। परन्तु वे पत्र उन्हें समय से नहीं मिले। पाठकजी को मैं सब बता दिया करता था और वह चुपचाप सुन लिया करते थे। लोगों ने मुझे कहा भी कि पाठकजी स्वयं 'भारती-भंडार' से क्यों नहीं छाप देते? लेकिन न तो मैंने इस बारे में कभी कुछ कहा और न ही उन्होंने। शायद मई का महीना था। जमकर गर्मियाँ थीं। ऐन दोपहरी में सिर पर तौलिया लपेटे चश्मे-छाते से लैस पाठकजी ने अपने खास लहजे में ''मेहताजी'' पुकारा तो विश्वास नहीं हुआ कि ऐसी तपती दुपहरी में पाठकजी आ सकते हैं। घर में न तो बिजली का पंखा था और न कूलर ही। सारा घर झुलसा पड़ रहा था। उनके साथ एक सज्जन और थे—विद्याधर मोदी। विद्याधर मोदी से परिचय कराते हुए पाठकजी बोले कि मेरी सारी बातें हो गयी हैं। इन्हें मैं पांडुलिपियाँ दे दूँ और यह आपको अभी दो हजार अग्रिम देंगे तथा एक हजार बंबई से भेज देंगे। मैं अवाक था कि 'हिंदी ग्रंथ रत्नाकर' जैसी नामी प्रकाशन संस्था से मेरी आठ किताबें छपेंगी। बाद में कभी पाठकजी ने 'भारती-भंडार' से न छापने का तर्क दिया था कि ''भारती-भंडार'' एक डूबता हुआ जहाज है और आपको इस पर चढ़ाने का अर्थ क्या होता, यह समझ लेना चाहिए।

सब कुछ इतने तुरत-फुरत हुआ था कि विश्वास नहीं हो रहा था। उन दिनों तथा उस स्थिति में दो हजार की राशि का महत्व मेरे अलावा और कोई नहीं समझ सकता। सच तो यह है कि इस घटना ने मुझे रातों-रात साहित्य में महत्वपूर्ण बना दिया। लेकिन जीवन अपने ही तर्कों और नियमों से निर्देशित होता है। कोई जरूरी नहीं कि वह हमारी अपेक्षाओं के अनुरूप ही हो। प्राय: यह होता है कि एक द्वार खुलता है तो दूसरा बंद होने लगता है। बहुत कम ऐसे भाग्यवान होते हैं जिन्हें वे सब द्वार खुले मिलते जाते हैं जिन पर वे दस्तक देते हैं। प्रकाशन के द्वार यदि मेरे सन्दर्भ में खुले तो नियमित अर्थ के द्वार यथावत बन्द जैसे ही रहे। शुरू में 'हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर' से जो तीन हजार पेशगी दिये उसके बाद, कुछ वर्षों बाद एक बार और मेरे बंबई जाने पर चार सौ रुपये मिले। लेकिन इसके बाद फिर कभी

पलटकर उन्होंने एक पैसा नहीं दिया। लोग मुझे मुकदमा दायर करने की सलाह देते परन्तु मैं किसी प्रकार की मुकदमेबाजी की स्थिति में था? कहाँ से फीस, स्टैम्प या दूसरे खर्चों के लिए पैसा लाता? इस बीच पत्नी ने हारकर एक स्कूल में पचहत्तर रुपयों पर सी० टी० ग्रेड में पढ़ाने का काम शुरू कर दिया था जो कि उनकी माँ के प्रयत्नों से मिला था। पाठकजी भी मुकदमे की सलाह देते या श्यामनाथ कक्कड़ जो कि बाद में भारत के सॉलीसीटर-जनरल हुए थे, भी अपनी तरफ से यह मुकदमा लड़ने के लिए तैयार थे। लेकिन मैं अपनी विवशता किसी को क्या बताता? लोगों को तो लग रहा था कि एक के बाद एक मेरी पुस्तकें छप रही हैं। 'नेशनल पब्लिशिंग हाउस' से इन्हीं दिनों ''धूमकेतु: एक श्रुति'', ''नदी यशस्वी है'' उपन्यास तथा ''मेरा समर्पित एकान्त'' काव्य संकलन निकला था। जो अग्रिम राशि मिलती उससे घर खर्च चलता था। अभी रायल्टी का क्रम बनने में समय था और बनने पर क्या बनता है यह भुक्तभोगी ही जान सकता है। स्वतंत्र-लेखन की नंगी सच्चाई से साक्षात चल रहा था। परन्तु अच्छाई यही थी कि मेरा लेखन अविरल हो रहा था। लोगों को यदि यह भ्रम हुआ कि मैं एक सम्पन्न व्यक्ति भी हूँ तो इसमें उनका कोई दोष भी नहीं था क्योंकि पत्नी दो सादी धोतियों और मैं कुरते पाजामे में यदि संभ्रान्त लगते थे तो इसमें पत्नी की सूझबूझ का काफी बड़ा हाथ था। कैसे पेड़ों में धोती बाँध कर सुखा ली जाती। कैसे घर पर कलफ तैयार करके निहायत आदिम कालीन इस्तरी को चूल्हे पर रख कर गरमा लिया जाता और कपड़ों के नाक-नक्श दुरुस्त कर लिये जाते ताकि वे लत्ते न लगकर भूषा लगें और हमें दयनीयता नहीं बल्कि सम्भ्रान्तता दे सकें। फिर भी पैसा, पैसा ही होता है और यह पैसा ही था जो हमेशा सामने के क्षितिज पर ही होता।

एक वर्ष के बेटे बाबुल को जब पड़ौस की बंगाली ठाकुरमाँ के तथा मेरे भरोसे छोड़कर महिमा पचहत्तर रुपयों के अर्जन के लिए घर का सारा काम-काज, रसोईपानी, मेरी चाय आदि समेट-सहेज कर भरी आँखें लिये स्कूल जातीं तब मैं उनके भीतर की अनभिव्यक्त उस माँ को कुछ तो अनुभव कर ही लेता था कि वह किसी दिन भी तो निश्चिन्त भाव से अपने बेटे को गोद में नहीं ले पा रही

हैं। उन्होंने अपनी इस अनभिव्यक्त माँ वाले व्यक्तित्व को मेरे सामने अभिव्यक्त नहीं होने दिया होगा क्योंकि मैं वर्षों-वर्षों के अन्तराल के बाद कितनी कठिनाइयों से लेखकीय अनुर्वरता से गुजर कर किसी प्रकार लेखन की प्रशस्त शाद्वलता तक पहुँचा हूँ। आज सब सोचकर मुझे अजीब सा लगता है कि मैं अपनी पत्नी की, परिवार की यथार्थता और विभीषिका को देखते हुए भी क्या सच ही समझ रहा था? अभी पत्नी स्कूल से लौटकर अपने बेटे को ललक के साथ ले ही रही होती कि मैं चाय की फरमाइश कर बैठता। बेटे को पार्ट-टाइम नौकरानी बुढ़िया के हवाले कर वह चाय बना कर मुझे देने में व्यस्त हो जातीं। बिना कुछ सोचे-विचारे दिन भर में जो लिखा उसे सुनाने के लिए मैं महिमा को पास में बैठाल लेता। क्या सच ही मैं समझ रहा था कि महिमा केवल मेरी पत्नी ही नहीं है, वह एक माँ भी है? बल्कि ऐसी माँ जिसने सवेरे से शाम तक अपने एक-डेढ़ वर्ष के बच्चे को गोद में लेकर एक बार भी प्यार नहीं किया? महिमा मेरे लेखक और अपने बेटे के बीच लगातार विभाजित होती रही। बच्चा अपने तरीके से बढ़ता गया, महिमा अपनी तरह से कसमसाती रही और मेरा लेखक अपने तरीके से साहित्य लेखन करता रहा।

बेटे ईशान का प्रथम जन्मदिन था लेकिन मुझे नहीं याद था। मैं हस्बमामूल रोज की तरह ही साइकिल उठाकर काफी-हाउस के लिए रवाना होने लगा तो महिमा ने जन्मदिन का स्मरण कराया और संकोच से यह भी कि घर में एक भी पैसा नहीं है। मैं चौंका जरूर परन्तु चिंतित नहीं हुआ। शायद मेरे स्वभाव में जीवन की परेशानियों को बहुत अधिक ओढ़ना नहीं है। जबकि दूसरी तरफ साधारण सी बात भी रातों की नींद हराम कर सकती है। काफी-हाउस जाते हुए सोचता रहा कि बेटे का पहला जन्मदिन है, मुझे भले ही कुछ न लगे परन्तु किसी माँ को कैसा लग सकता है न? लेकिन पैसों का प्रबंध कहाँ से, कैसे हो? "लोकभारती" ने अभी दो-एक वर्षों से ही प्रकाशन आरंभ किया था। अभी तक वहाँ सिवाय रोज के उठने-बैठने के अलावा उन्होंने कभी मेरी कोई किताब छापने की चर्चा भी नहीं चलायी थी, उस हालत में मैं उनसे कैसे कुछ माँग सकता था? उस दिन भी रोज की तरह काफी पी गयी, हँसना-बोलना हुआ, लेखकों वाली

ख़िंचाई आदि भी हुई। इस बीच 'लोकभारती' के तत्कालीन दोनों पार्टनर राधेबाबू और दिनेश ग्रोवर मुझे एक तरफ ले गये और पहली बार उपन्यास छापने की इच्छा प्रगट की। मेरे पास कोई रचना थी ही नहीं क्योंकि जो लिखता वह सीधा प्रेस चला जाता। पांडुलिपि तैयार करने की नौबत ही नहीं आती। नया उपन्यास ''प्रथम फाल्गुन'' स्थानीय वोरा एण्ड कंपनी के लिए काशीप्रसाद जैन ने ले लिया था, शायद इसीलिए अब 'लोकभारती' का ध्यान मेरी तरफ गया हो। मैं उन्हें भविष्य में लिखकर देने का आश्वासन देकर चल दिया। परंतु पेशग़ी के रूप में कुछ भी माँगना मुझे अपने आत्मसम्मान के विरुद्ध लगा। अभी तो मैं इनकी दृष्टि में एक सम्मानित लेखक हूँ लेकिन पेशगी माँगकर क्या मेरी भी वही स्थिति नहीं हो जाएगी जो दूसरे लेखकों की इनकी दृष्टि में होती है और जिनके माँगने के किस्से नमक-मिर्च लगाकर गाये-बजाये जाते थे? नहीं, मैं किसी भी मूल्य पर नहीं माँगूँगा और मैंने अपनी साइकिल उठायी। यही सोच रहा था कि अपने बेटे का प्रथम जन्मदिन हम उसे खूब प्यार करके मनाएँगे। अभी मैं सामने के मैदान का अहाता पार कर ही रहा था कि दिनेश पुकारते हुए दौड़े आ रहे थे। मैं रुका और मैं कुछ पूछूँ, करूँ, इसके पूर्व ही एक लिफाफा थमाते हुए बोले, अभी यह रखें, बाकी का उपन्यास मिलने पर देखेंगे। मुझे अवाक होना ही था। घर जाने पर वह लिफाफा, मैंने सारा किस्सा बयान करते हुए महिमा को थमाया जिसमें पाँच सौ रुपये थे। निश्चित ही हम दोनों की आँखों में आँसू जैसे आ गये लेकिन पता नहीं प्रसन्नता के थे या स्वतंत्र लेखन की विवशता के थे।

सच तो यह है कि उन दिनों प्रत्येक दिन लगता कि किसी भी क्षण डूब जाएँगे। मित्रहीन इस शहर में साहित्यकार ही साहित्यकार थे परन्तु शायद पाठकजी और शमशेर को छोड़कर किसी में अपने लिए, अपने साहित्य के लिए, अपने संघर्ष के लिए, कोई सहानुभूति नहीं थी जबकि प्रत्येक दिन शाम को घंटों काफी-हाउस में बैठा जाता। शमशेर निश्चित ही सदाशयी थे परन्तु वह स्वयं ही विषमताओं में घिरे रहते इसलिए सिवाय मौखिक सहानुभूति के और कुछ उनके लिए संभव भी नहीं था। यह अलग बात है कि कालान्तर में वामपंथी लेखकीय राजनीति के कारण उनसे भी वह आत्मीयता नहीं रह गयी थी जो वर्षों तक रही। अनेक बार ऐसे प्रसंग आये जब हाथ पसारने की नौबत आयी होगी। महिमा को होमसाइंस प्रेक्टिकल की परीक्षा लेने के लिए मथुरा जाना था। महीनों पहले उन्होंने पैसों के प्रबंध के लिए मुझे बता दिया था। समय बीतता गया और उनका जाना सिर पर आ गया। फिर वही समस्या कि किससे माँगा जाए? कितना अजीब था कि किताबें छप रही थीं। जो अग्रिम मिलता उससे घर-खर्च चलता, उसके अलावा रायल्टी के नाम पर हिंदी ग्रंथ रत्नाकर चुप्पी साधे रहा। इसके अलावा नेशनल या अन्य किसी प्रकाशक द्वारा रायल्टी से किसी वर्ष दो सौ रुपये भी कुल मिलाकर नहीं मिलते थे। मेरी कठिनाई यह थी कि मैं न तो किसी पत्रिका में कॉलम ही लिखता था, न ही मेरा कोई उपन्यास धारावाहिक रूप में छपा, क्योंकि लिखते समय ही वह प्रेस में चला जाता। अनुवाद करने का प्रश्न ही नहीं था। इस स्थिति में महिमा के मथुरा जाने के लिए पैसों का प्रबंध कैसे हो? माँगने में हर बार आत्मसम्मान आड़े आता अत: उस दिन भी जब मैं पैसों का प्रबंध करने लोकभारती गया तो चुपचाप बेरंग लौट आया। गर्मियाँ थीं। तब दालान खुला हुआ करता था। खुले दालान में जैसे-तैसे एक पर्दा टँगा था। देखा, पसीने से लथपथ एक महाशय बैठे हैं। भीतर पहुँचने पर मालूम हुआ कि एक घंटे से बैठे हैं, शायद कोई नवोदित प्रकाशक हैं। मैं झल्लाया हुआ तो था ही अत: उन महाशय, जो कि प्रकाशन आरंभ कर रहे थे, ने उपन्यास की चर्चा चलायी तो मैंने बहुत बेरुखी दिखायी। उन्होंने एक लिफाफा थमाया कि यह रखें और जब सुविधा हो तब उपन्यास दें। मैं फिर अवाक रह गया क्योंकि महिमा के लिए पैसों का प्रबंध इस

प्रकार होगा इसे मैं सोच भी नहीं सकता था। ऐसे अप्रत्याशित अनुभव प्रायः घटते रहे परन्तु यथार्थ की क्रूरता रोज के जीवन में प्रत्येक क्षण उपस्थित रहती। पुत्र ईशान को ''लीवर'' की शिकायत बचपन से ही थी। महिमा किसी प्रकार घर, नौकरी के साथ-साथ उसे प्रायः अस्पताल ले जातीं। घंटों लाइन में खड़े रहकर दवाई लातीं। एक बार इसी सिलसिले में डेढ़ सौ-दो सौ रुपयों की जरूरत पड़ी और जब महिमा की सोने की चूड़ियाँ बेचनी पड़ीं, तो उस बात को लेकर मैं आज तक अपने को कभी नहीं क्षमा कर सका। प्रायः सोचता कि मेरे पुरुषार्थ में आखिर क्या कमी है? पुरुषार्थ ही तो मेरे हाथ में है और भाग्य है कि हमें हमेशा धोखा दे जाता है। महिमा की एक कठिनाई यह भी थी कि शहर में माता-पिता भी थे और महिमा किसी भी मूल्य पर हमारे संघर्ष की विषमता और विभीषिका को उन्हें जानने नहीं देना चाहती रहीं। सास-ससुर को भले ही देख-सुनकर जो भी आहट हुई हो परन्तु महिमा ने कभी उन्हें कुछ नहीं बताया होगा। क्योंकि बताने का अर्थ होता कि सास-ससुर की दृष्टि में दामाद की स्थिति को गिराना। और कोई भी नारी, खासकर महिमा जैसी तप रही नारी हो, वह भला इस स्थिति को कैसे सहन कर सकती है कि उसके पति को किसी के भी सामने, चाहे वे अपने माता-पिता ही क्यों न हों, नीचा देखना पड़े? और महिमा ने अनेक प्रसंगों पर इस विषमता को पूरे आत्म-सम्मान और सावधानी के साथ बचाया। जाहिर है कि इसका नतीजा उनके स्वास्थ्य पर होना ही था। गरम-सर्द के क्रम से लगातार गुजरने पर कैसा ही लोहा कभी न कभी चिटखेगा ही। लेकिन जीवन के इस तपतेपन में निश्चित ही एक शाद्वलता भी थी और वह थी आनन्दमोहन रावल और मालती की आत्मीयता। ऐसा लगता कि यह आत्मीयता वैसी ही थी जैसी कि गर्मियों के दिनों में गुलाबपाश से आपको ठंडे-ठंडे छींटों से सुवासित किया जा रहा है।

इलाहाबाद एडवोकेट और लेखकों की मंडी रहा है। उन दिनों ए० जी० आफिस के अलावा और कोई खास बड़ा कार्यालय भी नहीं था। तब नैनी का आज जैसा विकास नहीं हुआ था। यों तो राजनीति का भी गढ़ रहा है इसलिए इलाहाबाद का आदमी एडवोकेट, नेता, लेखक या ए० जी० आफिस का कर्मचारी इन चार में से एक जरूर हुआ करता था। उन दिनों अधिकांश सारे बड़े साहित्यकार, महत्वपूर्ण नवोदित लेखक सभी तो इलाहाबाद में हुआ करते थे। कभी इस शहर में पंतजी, नरेंद्र शर्मा आदि ने "रूपाभ" पत्र निकाला था "सरस्वती" तो साहित्य की केन्द्रीय पत्रिका थी ही। "देशदूत" साप्ताहिक के अलावा "शिशु", "वानर", "बालसखा" जैसे पत्र भी निकला करते थे। कालांतर में "माया" ने कहानी के क्षेत्र में काफी काम किया। इसी क्रम में "कहानी" का अपना अवदान भी कम नहीं था। हाँ, लीडर प्रेस से "संगम" नामक एक साप्ताहिक पत्र इलाचंद्र जोशी के संपादन में निकला जिसमें धर्मवीर भारती और रमानाथ अवस्थी सहयोगी थे। "परिमल" ने "निकष" और "नयी कविता" के द्वारा नये साहित्य का नेतृव्य किया। तात्पर्य यह कि साहित्य की जितनी और जैसी जागरूकता यहाँ रही वैसी अन्यत्र नहीं थी, इसीलिए सभी पीढ़ी के महत्वपूर्ण लेखक इस शहर से किसी न किसी स्तर पर, कभी न कभी थोड़े-बहुत जुड़ते रहे। "अज्ञेय" ने भी अपना "प्रतीक" कुछ सोच समझकर ही यहाँ से निकाला था।

हमारी पीढ़ी के पहले लोग इस प्रकार काफी-हाऊस जैसी किसी सार्वजनिक जगह पर नियमित शायद नहीं मिला करते थे इसलिए उनका सारा समय और ध्यान लिखने पर ही रहता था। छायावाद और उसके लेखकों की चाहे जितनी आलोचना की जाए परन्तु लेखन के प्रति उनके समर्पण-भाव को नहीं नकारा जा सकता। इसीलिए उस काल के बड़े लेखक से लेकर साधारण लेखक तक ने काफी लिखा। यह नहीं माना जा सकता कि वे सब संत ही थे और कोई राजनीतिक दाँव-पेंच नहीं होते रहे होंगे परन्तु कहा जाएगा कि उनका सारा जोर लेखन पर ही था। जबकि बाद की पीढ़ी में उत्तरोत्तर लेखन के स्थान पर लेखन की राजनीति प्रमुख होती गयी। यह एक अनिवार्य परिणति थी। क्योंकि जब आप रोज नियमित रूप से सार्वजनिक स्थान पर मिलेंगे तो निश्चित ही राजनीति प्रमुख होगी। रोज

लिखना तो वैसे भी संभव नहीं होता तब चर्चा अनिवार्यत: जो स्वरूप ग्रहण करेगी वह शुद्ध साहित्यिक कैसे हो सकती है? इसलिए इस पीढ़ी में लेखकीय तेवर देखने योग्य सामने आये। लंका में सभी बावनगज के-की स्थिति बनी। कोई अपने को किसी से कम क्यों दिखता या आँकता? नतीजा हुआ कि वाग्-विदग्धता, जबाँदराजी के साथ-साथ गुटबाजी बढ़ने लगी। वैसे तो प्रगतिशील लेखक संघ के अभ्युदय से ही गिरोहबंदी शुरू हो गयी थी। इलाहाबाद में संघ की इस मनोवृत्ति का जवाब लेखन ही नहीं बल्कि एक प्रतिमंच ''परिमल'' के रूप में कुछ मित्रों ने बनाया। प्रगतिशील लेखक संघ का ऐसा सार्थक प्रतिकार अन्यत्र कहीं नहीं हुआ।

जहाँ तक बड़े लेखक जैसे निराला, पंत या महादेवी कभी भी काफी हाउस नहीं आये। वहीं, उसी पीढ़ी के लेखकों में इलाचंद्र जोशी जरूर आ जाया करते थे। रामकुमार वर्मा का इलाहाबाद के परिदृश्य में कोई स्थान नहीं था। कुल मिलाकर वह छात्र-हितकारी लेखक जैसे ही थे। अमृतराय थे तो हम उम्र ही परन्तु वह अपने कारणों से कभी नहीं शरीक हुए। प्रगतिशील लेखक आते जरूर थे परन्तु छिटपुट रूप में। काफी-हाउस मुख्यत: परिमलवालों का ही अड्डा हुआ करता था। इसमें एक अपवाद जरूर थे, विश्वम्भर ''मानव''। मानवजी 'साहित्य-संदेश' आगरा के मार्फत साहित्य में अधिक से अधिक परीक्षोपयोगी समीक्षक ही थे परन्तु उनकी राशी निश्चित ही वृश्चिक रही होगी। इसलिए वह नियमित नहाये-धोये बिलक्रीम से बाल चिपकाये, पेंट कमीज में ठीक छह बजे काफी-हाउस में पीछे की सीट पर बैठे दिख जाते, जैसे घात लगाये बैठे हों कि आप आएँ और वह अपने डंक का प्रयोग करें। मानवजी अद्‌भुत रूप से अजूबा थे। साहित्यिकों में शायद ही कोई जीवित नाम होगा जिसे वह पसंद करते रहे हों। आपके साहित्य पर बिना झिझके वह चुभता सा कमेंट न करें, यह संभव ही न था। लोगों को शत्रु बनाने की कला में उन्हें सिद्धि प्राप्त थी। इसी का नतीजा होता कि यार लोग भी उनका खासा मजा लेते थे। प्रशंसात्मक भाषा के माध्यम से कैसे किसी को नंगा किया जा सकता है इस कला को काफी-हाउस वाले सभी महानुभाव बखूबी जानते थे। हाँ, मौके-मौके की बात होती कि किसकी बात लहती है। गरज कि साहित्य की चर्चा के अतिरिक्त दुनिया-जहान की बखिया उधेड़ी जाती। काफी-हाउस के इस गप्पाष्टक मंडल के कुछ स्थायी सदस्य थे—साही, मुंशी लक्ष्मीकांत वर्मा, केशवचंद्र वर्मा आदि। कुछ निरीह सदस्य थे जैसे रघुवंश, रामस्वरूप, विपिन अग्रवाल आदि। खासकर साही जिस अंदाज में टेबल पर होते उसमें अड्डा चलाने वाले ''सुप्रीमों'' का अंदाज होता। वैसे मानवजी के कमेंट्स पर

खासी बहसा-बहसी होने लगती परन्तु सबसे ज्यादा मजा अश्कजी को लेकर आता। वैसे अश्क गाहे-बगाहे ही आते परन्तु उनके आते ही लोगों के उस्तरे तेज हो जाते। खासकर मानवजी से उनकी तू-तू, मैं-मैं मुर्गों की लड़ाई का सा मजा देती। इस गोष्ठी में काफी पहले गंगाप्रसाद पाँडे भी जीवन के अंतिम दिनों तक आते रहे। इसी प्रकार सत्यव्रत सिन्हा मीसा में बंदी होने के पहले तक आया करते थे। परन्तु ये तथा कुछ और भी निरीह या भले सदस्य हुआ करते थे। दो-तीन घंटों की यह रोजवाली चकल्लस कुछ के लिए भय जैसी थी। शमशेर जैसे भले लोग इसके नाम से घबराते थे परन्तु कुछ के लिए तो यह हाजमे के लिए कायम-चूर्ण जैसा था। यहाँ बैठकर ही सबके लेखन, साहित्यिक हैसियत आदि रोज बोतलों में बंद की जाती और प्रवाहित कर दी जाती। हाँ, इस गोष्ठी के कुछ आधारभूत नियम जैसे थे कि सामान्य स्थिति में कोई किसी को काफी नहीं पिलाता था। साही साहब का एक और नियम था कि वह बैरे को एक नया पैसा भी टिप में नहीं देते थे। चेन्ज लौटाते समय अगर पाँच पैसा भी कम होता तो साही दूसरे दिन काट लिया करते थे, और यह सब वह निहायत ही घोषित तरीके पर करते थे और ऐसा सब करते हुए उनके चेहरे पर कोई मलाल नहीं होता था।

वैसे काफी-हाउस में वकीलों की, राजनीतिक लोगों की, पत्रकारों की, अपनी-अपनी टेबलें थीं। और किसी-किसी दिन सारी टेबलों पर इतना अधिक बहस-मुबाहसा होता कि मछली बाजार का सा माहौल हो जाता। बहरहाल यहाँ का आदर्श वाक्य था कि मित्र छोड़ा जा सकता था पर मजाक नहीं। इसलिए हर समय, हर व्यक्ति, हर शब्द और हर कमेंट को ध्यान से सुनता। और यदि वह आपसे संबंधित है और आपने उसकी ठीक से पेशबंदी नहीं की तो फिर खाल-खिंचाई-अनुष्ठान में कोई आपका साथ नहीं देगा। इसलिए चाहे जो कहना-सुनना पड़े परन्तु कोई अपनी खाल-खिंचवाने के लिए तैयार न होता। नतीजा होता कि जिस दिन ऐसा कोई यजमान न फँसता तो सबकी थूड़ी बोलते हुए काफी-हाउस के बाहर आया जाता।

इसका दूसरा चरण था चर्च की परिक्रमा। आम भाषा में इस चर्च को पत्थर-गिरिजा कहा जाता था यह ऑलसेंट्स चर्च था। यह अपने स्थापत्य के कारण काफी विशिष्ट चर्च था। इस चर्च-परिक्रमा-गोष्ठी में ज्यादातर मैं और साही और यदा-कदा मुंशी लक्ष्मीकांत वर्मा या केशवचंद्र वर्मा भी होते। यह एक प्रकार से उच्छिष्ट-गोष्ठी ही होती जिसमें सारे लोगों पर रायजनी होती, मजाक उड़ाया जाता लेकिन कभी-कभी जब साही के साथ अकेले रह जाता तो फिर कुछ गंभीर चर्चा

भी हो जाती। वस्तुत: साही में कविता और आलोचना की खासी संभावना थी। उनका काव्य-संग्रह ''मछलीघर'' उन दिनों काफी चर्चित भी हुआ था। यदि उन्होंने जरा भी गंभीरता से लेखन किया होता तो खासे बड़े और महत्वपूर्ण कवि होते। साथ ही आलोचना पर भी उनकी पकड़ थी। ''लघु मानव के बहाने एक बहस'' उनका एक निबंध काफी चर्चित हुआ था। असल में साही अपने आरंभिक दिनों में सोशलिस्ट पार्टी और मजदूर यूनियन से जुड़े हुए थे। हालाँकि विश्वविद्यालय में आ जाने के बाद उनका यह पक्ष सशक्त नहीं रहा लेकिन तब भी लोग घेरे रहते। इसके अलावा साही को लंबी-लंबी बहसों का शौक था। बहस का मुद्दा कुछ भी हो, साही घंटों बात कर सकते थे। नतीजतन उनका लेखन उपेक्षित होता गया। साथ ही अच्छे वक्ता होने के कारण सभा मीटिंगों में ज्यादा दिलचस्पी रहती जहाँ वह काफी दबंगई से अपनी बात प्रस्तुत करते। मैं प्राय: इन बातों पर ध्यान दिलाता तो वह सुनने से अधिक अपने बुझे पाइप को सुलगाने में लग जाते।

जब काफी-हाउस से लौटने में देर हो जाती तो मैं अपनी साइकिल तो स्टैण्ड पर ही छोड़ देता और साही मुझे अपने स्कूटर पर गली के मुहाने तक छोड़ जाते। निश्चित ही इस देरी के लिए मैं कुछ न कुछ बहाना सोच रहा होता परन्तु पत्नी की एकनिष्ठ प्रतीक्षा देखकर सारे बहाने हवा हो जाते। कुछ दिनों से हमारे घर प्राय: मेरी अनुपस्थिति में मोहल्ले के एक प्रसिद्ध लेखक महाशय घर आते और घंटों महिमा से बातें करते हुए समझाते कि वह क्यों नहीं अपने साथ हो रही इन ज्यादतियों को लिखतीं? यदि वह लिखें तो वह उन्हें छाप देंगे। क्यों वह ऐसे पति को सहन कर रही हैं जो कुछ नहीं कमाता? क्यों वह नौकरी में खटती हैं? सारी गृहस्थी का भार वह क्यों ढो रही हैं? तात्पर्य यह कि वह क्यों नहीं अपने पति को तलाक दे देतीं? महिमा रोज-रोज के इस 'सत्परामर्श' को बड़े रस के साथ मुझे सुनातीं। यह महाशय ऐसा सामाजिक नारी-उत्थान का काम कुछ लेखक-परिवारों में कर चुके थे। परन्तु जब महिमा निहायत ही भोलेपन से उन्हें सुनती होतीं और कोई प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त करतीं तो कालान्तर में वह महिमा को यदि एक घाघ स्त्री समझने लगे हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। लेकिन मैंने किसी दिन उनसे इस बारे में कोई चर्चा नहीं की।

प्रगतिशील-लेखक-संघ निश्चित ही प्रयाग में सक्रिय था लेकिन उसमें लेखक बहुत कम थे और जो थे भी उनका कोई विशेष महत्व नहीं था। प्रगतिशील लेखकों में प्रकाशचंद्र गुप्त से, बावजूद पार्टी से मेरे अलग हो जाने के, थोड़ा

आत्मीय संबंध बना हुआ था। वह मुझे हमेशा वापस पार्टी में आ जाने के लिए कहते। वास्तव में, प्रकाशजी बहुत सरल व्यक्ति थे। वैसे वह आलोचक थे परन्तु वह आलोचना के कारण नहीं बल्कि एक मनुष्य के नाते अधिक जाने जाते थे। उन दिनों ही पार्टी में तुलसी-कबीर को लेकर विवाद आरंभ हो चुका था तथा खेमे बनने को थे। इन लोगों की समझ में नहीं आ रहा था कि तुलसी को क्या माना जाए। तुलसी के ''रामचरितमानस'' का रूसी अनुवाद भारतीय कम्युनिस्टों को कभी नहीं रुचा। प्रकाशजी जैसे आलोचक कभी तुलसी की प्रशंसा में लिखते तो कभी कबीर की प्रशंसा करने लगते। पिछले दिनों डाक्टर रामविलास शर्मा ने ''हंस'' में रांगेय राघव, राहुलजी, पंत और यशपाल पर जैसे प्रहारात्मक लेख लिखे थे उससे इस खेमे में खासी खलबली मची हुई थी। शिवदानसिंह चौहान कुत्सित समाजशास्त्र का अपना सिद्धांत ''आलोचना'' के माध्यम से पोषित करने में लगे थे। नामवरसिंह का वामपंथी प्रशिक्षण इसी कुत्सित समाजशास्त्री वातावरण में हो रहा था क्योंकि वह तब 'हंस' में चौहान के सहायक थे। इलाहाबाद में प्रकाशजी के अतिरिक्त अमृतराय और नेमी थे। अमृत वैसे तो अपना लेखन भी कर रहे थे लेकिन लोग उन्हें अनुवादक के रूप में ही मान्यता दे रहे थे। प्रकाशन की, नेतृत्व की तथा प्रगतिशील लेखक संघ के मंच की सुविधा के बावजूद वह अपने को मौलिक लेखक के रूप में प्रतिष्ठित नहीं कर पा रहे थे। भैरवप्रसाद गुप्त जरूर अपने प्रति दिवसीय साहित्य-लेखन का बहीखाता जारी रखे हुए थे। उनका इससे कोई सरोकार नहीं था कि लोग उन्हें क्या और कैसा मानते हैं। मार्क्सवादी वर्ग-भेद के सपाट मार्ग पर वह स्पेनिश बुल की भाँति दुर्दान्त फुँफकारते हुए कहानी-उपन्यास लेकर निश्चिन्त भाव से बढ़ रहे थे। नये लेखकों में मार्कण्डेय, अमरकांत, कमलेश्वर थे। अपने आरंभिक दौर में कुछ महत्वपूर्ण कहानियों के बाद मार्कण्डेय एकदम ही चुक गये। अमरकांत भी विशेष कुछ नहीं कर सके और कमलेश्वर को अपनी आकांक्षाओं की दृष्टि से इलाहाबाद, दूसरा मैनपुरी कस्बा लगने लगा और वह महानगर की ओर प्रस्थान कर गये। प्रगतिशीलों के पास तब भी काव्य के क्षेत्र में कोई बड़ा नाम या नवोदित कवि, कोई नहीं था। ले-देकर शमशेर थे जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर प्रगतिशील भी कहा जा सकता था वर्ना वह प्रयोगवादी, कवियों के कवि तो थे ही। जबकि इसके विपरीत ''परिमल'' के पास कहानीकार या उपन्यासकार नहीं थे। हाँ, कवि जरूर थे। भारती के ''धर्मयुग'' में चले जाने के बाद नेतृत्व का अभाव आया जिसे न तो साही भर सके और न जगदीश गुप्त। नये लेखकों में मलयज, श्रीराम वर्मा, दूधनाथ सिंह, शिवकुटीलाल वर्मा और अमर गोस्वामी जैसे लोग अपना मार्ग तलाश रहे थे। उन्हीं दिनों गिरिराज किशोर भी

प्रयाग के उस साहित्यिक दंगल में एक निर्दलीय के रूप में अपनी ठसक के साथ खड़े थे। उनसे आत्मीयता का कारण उनका स्वत्यवान होना था। छायावाद के बाद लेखन से ज्यादा लेखकीय और लेखन की राजनीति की प्रमुखता ने इन दोनों खेमों के सारे लेखकों का अहित किया। प्रायः लिखना या लिखते रहना, महत्वपूर्ण नहीं रहा। इसलिए जब मैं बराबर लिख रहा था तो एक अव्यक्त कसमसाहट इनमें जरूर थी। आये दिन पुस्तकें प्रकाशित होने को लेकर छींटाकशी भी होती। "लोकभारती" में बैठकर वातावरण बनाया जाता। वैयक्तिक विरोध को सैद्धान्तिक जामा पहनाया जाता। रोज रात में घर लौटकर ये सारी चीजें मुझे लिखने के लिए अधिक प्रेरित करतीं। आर्थिक कारण से ज्यादा लेखन अब मेरे स्वत्व की आवश्यकता बन गया था। एक प्रकार से यह अस्मिता की लड़ाई थी जिसमें मैं अकेला था और विरोधों से घिरा हुआ था। दोनों ही खेमों में मैं अस्वीकार्य था। वे न पढ़ने की उपेक्षा तो बरत सकते थे, जो कि थी, परन्तु अस्वीकार कर सकने की स्थिति में भी नहीं थे। मेरी कविता से दोनों ही पक्षों को एतराज था, लेकिन उससे भी अधिक मेरे गद्य लेखन से था। तरह-तरह के लांछन सामने आते कि मैंने बंगला भाषा से चुराया है या और कहीं से लिया है। लेकिन रोज शाम को काफी-हाउस में सामना होने पर सब चुप्पी साध लेते। मेरी भाषा का मजाक "प्रचोदयात" शैली कहकर एक परिमली महानुभाव को बड़ी तुष्टि मिलती थी। मुझे 'वैष्णव' कहा जाता जबकि यह समाजवादी हजरत अपने लंबे कुरते की जेब में तस्बीह जैसी एक छोटी सी माला द्वारा बराबर हनुमान-चालीसा का पाठ करते रहते। लोगों का यह दुहरा चरित्र देखकर दया ही आती जबकि यह सब मुझे हतोत्साह करने के लिए हो रहा था। एक बार साही अपने एक मित्र के साथ मेरे घर आये और मुझे ये वैदिकी तथा वैष्णवी कविताएँ न लिखने का उपदेश देने लगे। उनके साथ आये मित्र को मेरी वैष्णवता शुद्ध बकवास लगती थी। लेकिन कालान्तर में मैं थोड़ा चकित हुआ जब उन्होंने वात्स्यायन के हाथों अपने एक काव्य-संकलन का उद्घाटन करवाया जिसका कि खाँटी वैष्णवी नाम था और कुछ वैष्णवी तर्ज की कविताएँ भी थीं लेकिन पता नहीं क्यों साहित्य और लोगों ने उन्हें कोई मान्यता नहीं दी।

मैं शायद शुरू से ही इस प्रकार की अपांक्तेयता का आदी था। शुरू में भले ही थोड़ा दुखी हो जाता रहा हूँगा परन्तु समय के साथ मुझे लोगों के विरोध की कोई खास चिन्ता कभी नहीं हुई। जिस समकालीनता से पृथक तथा जिस भाषा में मैं लिख रहा था वह मेरे समकालीनों के लिए भले ही अनाधुनिक, अप्रगतिशील,

प्रतिक्रियावादी आदि लगता रहा हो परन्तु उत्तरोत्तर जब अपने पाठक-समाज से संबंध बढ़ता गया तथा फैलता गया तब मुझे ऐसा नहीं लगा कि मैं सिर्फ जिद के कारण या जानबूझकर ऐसा लिख रहा हूँ, ताकि समकालीनों से अलग दिखूँ। साही का कथन मुझे याद है कि मैं सिर्फ जिद से ऐसा लिखता हूँ।

प्रत्येक तपते हुए क्षितिज तक फैले मरुस्थल में जल का लहराता आभास होता है, जिसे मृगतृष्णा कहा जाता है। परन्तु ऐसा आभास भी कई बार बहुत बड़ा संबल होता है। इस संदर्भ में श्री शेषेन्द्र शर्मा और राजकुमारी इंदिरा धनराजगिरि का स्मरण खस की सुगन्ध जैसा ही है। जिस प्रकार मेरे कवि के प्रति उनकी आस्था और आश्वस्ति रही वह भाषातीत है। शेषेन्द्र का 'उत्सवा' की भूमिका लिखना तथा हैदराबाद में मेरे लिये जिस प्रकार गोष्ठियाँ और आयोजन किये गये उसे देख-सोचकर आज भी स्तंभित रह जाता हूँ कि उस सबसे मेरा कितना मनोबल बढ़ा था।

यह एक विचित्र सा संयोग था कि यही अवधि मेरे लेखन की सबसे अधिक उर्वर भी थी और जीवन की सभी प्रकार की विषमताओं की भी। ऐसा लगता है कि पहाड़ी नदी को भी ऐसी ही विषमता का सामना करना पड़ता होगा। पग-पग पर चट्टानें मार्ग रोके हुए होती हैं और पीछे से आता हुआ जल उसको आगे जाने के लिए ठेलता होगा। इस दुहरे दबाव में उसे अपने जलों में प्रवाह की शक्ति भी बनाये रखनी पड़ती होगी और पीछे आते जलों को सहेजे भी रखना पड़ता होगा।

सन् '६६ में बेटी बुलबुल (वान्या) अभी तीन माह की ही रही होगी कि पत्नी ने बिस्तर पकड़ लिया और वह भी महीनों के लिए। इतनी छोटी बुलबुल की देखरेख की समस्या तो थी ही। उन दिनों पाँच-छह रुपयों में नौकर मिल जाया करते थे। हालाँकि इतना दे सकने की भी हमारी स्थिति नहीं थी परन्तु विवश थे। महिमा काफी समय बीमार रहीं और लंबी छुट्टियों पर थीं। वह अभी स्थायी भी नहीं हुई थीं तथा स्कूल भी लगभग प्राइवेट था इसलिए वेतन का प्रश्न ही नहीं था। महिमा को उचित दवा-दारू और फलों की आवश्यकता थी। अपनी इन परिस्थितियों में ऐलोपैथी का इलाज कराना संभव ही नहीं था। एक तो पैसा नहीं था दूसरे इस इलाज पर कभी विश्वास भी नहीं था। होम्योपैथी ही एकमात्र इलाज संभव था। उन दिनों इलाहाबाद में डा० जे० के० मेहता, जोकि विश्वविद्यालय के अवकाश प्राप्त प्रोफेसर वयोवृद्ध गाँधीवादी अर्थशास्त्री थे, शौकिया होम्योपैथी करते थे। उनका बड़ा नाम था अत: उनकी शरण में गये। तीन-चार महीनों के इलाज के बाद महिमा कुछ स्वस्थ हुईं। इस सारी विषमता में समझ में नहीं आ रहा था कि चार-पाँच वर्ष के पुत्र और चार-पाँच महीनों की बेटी की देखरेख, पत्नी की तीमारदारी के साथ-साथ प्रकाशकों की माँग को किस प्रकार पूरा करूँ। और यदि पूरा नहीं करता हूँ तो घर-खर्च कहाँ से और कैसे आएगा? हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर ने तो फिर कभी कुछ दिया ही नहीं। जब आठ किताबों की अच्छी खासी रायल्टी ही आपको न मिले तो लेखक क्या कर सकता है? आये दिन, रोज-रोज कोई कितना नया लिख ही सकता है? और वह भी मेरा जैसा लेखक जिसने अपने मन में एक खास प्रतिमान बनाया हुआ था।

बात छोटी सी ही होती है परन्तु कई बार वह जीवन भर के लिए कसक दे जाती है। महीनों की बीमारी के बाद जब महिमा ने बुलबुल को गोदी में लिया तो

उस पाँच माह की बेटी ने अपने माँ को नहीं पहचाना और वह रोती हुई नौकरानी की गोद में चली गयी। पुरुष की दृष्टि से भले ही यह एक मामूली सी बात हो सकती है, जो कि होती है, परन्तु स्त्री के लिए जो कि माँ होती है, संतान को गोदी में लेकर पुचकारना, सीने से सटाना और हो सके तो उसे अपना दूध पिलाना संसार का सबसे महत्वपूर्ण कार्य होता है। बुलबुल को न ले सकने का दर्द महिमा की आँखों में था, परन्तु क्या किया जा सकता था? बाबुल स्कूल जाने लगा था। कहीं उसमें कोई हीन भावना न पैदा हो इसलिए उसे सेंट जोसेफ में दाखिला दिलवाया था, जिसकी शायद हमारी हैसियत तो नहीं थी, फिर भी यह जरूरी था।

ऐसा कहा जाता है कि पौ फटने के पूर्व अँधेरा कुछ ज्यादा ही सघन हो जाता है। ऐसा ही कुछ अँधेरा अपनी सघनता के साथ घिरता सा लगा जब सन् सत्तर के आसपास फाल्गुन में रुमेटिक आर्थराइटिस और साइटिका का पहला अटैक महिमा को हुआ। हम सब स्तब्ध थे। पिछले वर्षों में किसी तरह गाड़ी खिंच रही थी परन्तु इस अटैक ने तो वाचाहीन बना दिया। महीनों महिमा बिस्तर पर भी एक इंच नहीं खसक पाती थीं। बाद में भी वह पलंग पकड़कर या दीवार का सहारा लेकर किसी कदर घिसट पाती थीं। अजीब विषमता थी। दूर-दूर तक कहीं कोई नहीं था जिसे पुकारा जा सकता था। सास-ससुर अपनी सीमा में भरसक हमारे साथ थे। ऐसी परिस्थितियों में जो चीज सबसे बड़ी सहायक होती है-अर्थ, वही हमारे पास नहीं था। साहित्य में उपेक्षा, विरोध सब अपनी जगह बदस्तूर था। प्रकाशक उस ग्वाले की तरह होते हैं जिन्हें पूरी गाय से नहीं बल्कि गाय के थनों से ही मतलब होता है। वह पूरी गाय को नहीं उसके थनों को ही पानी के छीटें देकर सहलाते है। आप रचना दीजिए और थोड़ा-बहुत अग्रिम ले जाइए। वर्ष में जब भी और जितनी भी रायल्टी बनेगी उसे वह दे देगा, परन्तु एक साथ नहीं। वह आपकी आवश्यकता और संघर्ष देखे या अपना बहीखाता?

और प्रत्येक वर्ष फगुआ चलना जैसे ही आरंभ होता घबराहट होने लगती। इन्हीं दिनों तो पिछले कुछ वर्षों से महिमा बिस्तर पकड़ लेती रही हैं। जब शुरू में महिमा बीमार हुई थीं और बुलबुल तीन-चार माह की ही थी, मैं दालान में बैठा हुआ भावी आसन्नता के बारे में सोचने लगता। लोग-बाग यह भी कहते सुने गये कि मैं जान-बूझकर महिमा का उचित इलाज लग कर नहीं करवाना चाहता इसलिए होम्योपैथी करवा रहा हूँ।

निश्चित ही स्थितियाँ सांघातिक थीं। कभी-कभी लगता कि यदि कुछ अघटित घट गया तो इन दो छोटे बच्चों के साथ कैसे क्या होगा? क्या सब कुछ ताश के महल सा हठात् ढह जाएगा? यहाँ तक की यह सारी यात्रा निर्वीर्य चली जाएगी?

लेखक बनने का मेरा स्वप्न बालू की दीवार सा मटियामेट हो जाएगा? निश्चित ही मैं तो अपनी तरह घिरापन महसूस कर ही रहा था परन्तु महिमा भी इस सबको देख-बूझ रही थी, इसलिए वह अपनी व्यथा को कभी व्यक्त नहीं करती। परन्तु व्यक्ति सहने को मौन बना सकता है लेकिन बिस्तर से उठ तो नहीं सकता। लेकिन कुल अच्छाई यह थी कि महिमा की एक मित्र श्रीमती उर्मिला सक्सेना ने जिस आत्मीय और एकनिष्ठ भाव से हमारे पूरे परिवार को, बच्चों को सहेजा-समेटा उसके लिए कोई शब्द नहीं हो सकते। साथ ही पड़ौस के मित्ता परिवार की आत्मीयता और सहयोग ने भी न केवल हमें निराश्रित नहीं होने दिया बल्कि नार्मल बने रहने में बहुत सहयोग दिया।

ऐसे ही फाल्गुन के भीषण दिनों में पत्नी को बिस्तरे पर छोड़कर मैं सन् ७३ में मध्यप्रदेश के सरकारी बुलावे पर भोपाल रवाना हुआ। मैं जानता हूँ कि इसका श्रेय अशोक वाजपेयी को जाता है कि लेखक या कलाकार भी एक सम्मानित व्यक्ति होता है तथा सरकार को इसे समझना चाहिए। भोपाल के इस आयोजन से पहली बार अपने लेखक होने का अर्थ सार्थक लगा। स्वाधीनता के पच्चीस वर्ष पर आयोजित इस अनुष्ठान में जब अन्य महानुभावों के साथ मैं भी सम्मानित हुआ और दो हजार रुपयों की राशि मिली तो पता नहीं मन में कितना हाहाकार होने लगा। महिमा को बीमारी की हालत में लगभग निराश्रित स्थिति में छोड़कर यह सम्मान लेने जाना, मेरे जड़-मूल को हिलाये दे रहा था। सच तो यह है कि मैं लगभग डूब चुका था परन्तु नहीं, मैं फिर सतह पर पहुँचकर साँस ले रहा था। हालाँकि इसके कुछ समय बाद भोपाल में कैलाश चंद्र पन्त और प्रभाकर श्रोत्रिय ने 'सारस्वत-सम्मान' किया। ऐसा लगने लगा कि स्थितियाँ करवट ले रही हैं। कानपुर विश्वविद्यालय में गिरिराजकिशोर के कारण ''संशय की एक रात'' पहली बार कोर्स में लगी। सुरेश ग्रोवर और विपिन शर्मा ने ''पुस्तकायन'' प्रकाशन संस्था खोलकर इसे छापा ताकि मुझे रायल्टी ठीक-ठिकाने से मिल सके, और हुआ भी यही। महिमा भी अब पहले से थोड़ी बेहतर हुईं। साईटिका का इलाज डा० मेहता कर ही रहे थे। बच्चे अपने तरीके से पढ़ और बढ़ रहे थे। प्रगतिशीलों का विरोध तो यथावत रहना ही था क्योंकि ये लोग किसी भी विरोधी तक को सहन कर सकते हैं लेकिन किसी ''एक्स कम्युनिस्ट'' को कभी बर्दाश्त नहीं कर सकते। ''परिमल'' अपने स्थानीय स्वरूप और गतिविधियों के कारण दिनोंदिन क्षीण होता जा रहा था। बिना लिखे लेखक बने रहने का मिथ टूटने लगा था। साही की अकाल मृत्यु ने ''परिमल'' को अंतिम रूप से समाप्त कर दिया।

याद नहीं पड़ता कि किस प्रसंग से आगरा जाना हुआ था। ''लोकभारती'' के दूसरे पार्टनर रमेशचंद्र ग्रोवर और मैं एक ही होटल में रुके थे। यह हमारी पहली निकटता थी। उन्होंने जब कविता और विशेषकर मेरी नयी लिखी वैदिक कविताओं में रुचि दिखलायी तो आश्चर्य हुआ। व्यक्ति के रूप में यह रुचि होती तो कोई बात नहीं थी परन्तु जब एक प्रकशक के रूप में रमेश ने उत्साह दिखाया तो मेरा चकित रह जाना स्वाभाविक था। उस समय तक शायद आठ-दस कविताएँ ही लिखी थीं। रमेश ने आग्रह किया कि मैं इनका संग्रह तैयार करूँ तो वह उसे अवश्य छापेंगे; और कालान्तर में ''उत्सवा'' नाम से यह संग्रह निकला। रमेश भी खासे दिलचस्प व्यक्ति हैं। मेरे कवि के प्रति उनका जैसा और जितना विश्वास आज भी है उसे किसी संज्ञा से व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह किसी मित्र या आत्मीय का तो लक्षण हो सकता है लेकिन प्रकाशक का तो नहीं ही हो सकता।

उन गाढ़े दिनों में श्रीमती शांति मेहरोत्रा ने, जो कि रेडियो में प्रोड्यूसर थीं महिमा की रचनाओं का बराबर प्रसारण किया। शांतिजी का यह सहयोग बहुत महत्वपूर्ण रहा। इससे अधिक सुगंधित मेहरोत्रा पविार की आत्मीयता थी जिनमें व्यंजनों का स्वाद तो था ही लेकिन थोड़ी-बहुत परनिंदा की छौंक भी मजा दे जाती। शांतिजी के अवकाश ले लेने के बाद निर्मला ठाकुर ने भी सदाशयता दिखलायी। निश्चित ही घोर अँधेरा अब अपने उतार पर था परन्तु अभी भी सब कुछ निरापद नहीं था। वैसे तो इलाहाबाद में पुरानी पीढ़ी के कुछ महानुभाव भी स्वतंत्र लेखन करते रहे हैं परन्तु हमारी पीढ़ी में शैलेश मटियानी का लेखकीय संघर्ष बहुत दुर्धर्ष था। कुछ अन्य भी थे जो स्वतंत्र लेखन कर रहे थे जैसे मुंशी लक्ष्मीकान्त वर्मा परन्तु शैलेश मटियानी अपनी लेखकीय गरिमा भी बनाये हुए थे। इस संदर्भ में एक दिलचस्प महोदय का स्मरण हो रहा है, वह थे बालकृष्ण राव। श्रीमान अवकाश प्राप्त आई० सी० एस० थे, 'लीडर' दैनिक के लब्ध प्रतिष्ठित संपादक सी० वाई० चिन्तामणि के पुत्र थे। उन्हें जबरिया अवकाश लेना पड़ा था। स्वतंत्र लेखन वह भी कर रहे थे पर ऐसा लगता था कि वह स्वतंत्र लेखन नहीं बल्कि साहित्य पर एहसान कर रहे थे। वैसे कॉलम-रिव्यू के अलावा उनका साहित्य क्या था, कहना कठिन है। वह शायद कविताएँ करते थे। जरूर ही करते

रहे होंगे परन्तु उन्हें दरबारदारी का खासा शौक था। उनके दरबार में किस्से-कहानियों और संस्मरण, खासकर कवि-सम्मेलनों के, खासे दिलचस्प हुआ करते थे। ''कादंबिनी'' के वह आरंभिक संपादक रहे। बाद में ''माध्यम'' नाम से एक पत्रिका का संपादन किया। हिन्दुस्तानी अकादमी के अध्यक्ष के अलावा वह एक बार इलाहाबाद के मेयर भी रहे। ''विवेचना'' गोष्ठी में भी वह काफी सक्रिय थे। कुल मिलाकर वह पुरानी पीढ़ी तथा हमारी पीढ़ी के बीच के महानुभाव थे। उन दिनों इलाहाबाद का लेखकीय वैविध्य सब तरह से चरमोत्कर्ष पर था।

मुझे हमेशा लगता रहा है कि व्यक्ति और व्यक्तित्व में दूरी और अन्तर होता है। सामान्यत: हम व्यक्ति के व्यक्तित्व को ही जानते होते हैं लेकिन जब निकट जाते हैं तो हमारा भ्रम टूटता है। इसलिए अच्छा तो यह होता है कि इन दोनों के अन्तर को समझना चाहिए और दूरी बनाये रखना चाहिए तभी किसी भी बड़े व्यक्ति के लिए हमारे मन में सम्मान बना रह सकता है। हम भूल जाते हैं कि व्यक्ति चाहे कोई हो दूसरे सामान्य व्यक्तियों की भाँति ही होता है। इलाहाबाद में उन दिनों निराला, पंत, महादेवी व्यक्तित्व के रूप में प्रतिष्ठित थे। मैं यदा-कदा ही इनके यहाँ जाता था। मुझे व्यक्ति और व्यक्तित्व की यह दूरी स्पष्ट दिखलायी देती। निराला निश्चित ही अतिमानव कहे जा सकते थे। वह चाहे आपके लिए उपस्थित लगें परन्तु उनके लिए किसी की उपस्थिति का कोई अर्थ नहीं होता था। दारागंज के कमलाशंकर मिश्र के आवास में औघड़ रहन-सहन और वेश-भूषा में वह अपनी देशकालातीत मानसिकता में दो-चार भक्तों से प्राय: घिरे होते। वह आत्मालाप ही करते थे, इसे आप चाहें तो संलाप भी समझ सकते थे। पर वह पूरी तरह निरपेक्ष थे। वह साहित्य में उतने नहीं हुआ करते थे जितने कि साधना या अध्यात्म के लगते थे इसलिए किसी का भी आना-जाना उनके लिए कोई महत्व नहीं रखता था। उनके लिए किसी सब्जीवाली का भी वही अर्थ और महत्व हो सकता था जितना कि किसी आगन्तुक साहित्यिक व्यक्ति, प्रशासक या राजपुरुष का आगमन। उन्होंने अपने पर से भूषा ही नहीं उतारी हुई होती बल्कि सारी लौकिकता को बालाये ताक कर रखा था। उनके यहाँ जाना शेर की माँद में जाने जैसा ही होता। कोई व्यक्ति शाश्वत सृष्टा की मानसिकता में ऐसी अतिमानसिकता के साथ ही हो सकता है। लेकिन इसके विपरीत पंतजी के साथ था। वह न केवल ऊँचा कोट ही पहनते थे बल्कि उसी प्रकार का नपा-तुला व्यवहार भी करते थे। उनकी चर्चा में मार्क्स, गांधी या अरविन्द सभी आ जाते परन्तु आप पर किसी वैचारिकता का प्रभाव नहीं पड़ता। वे सृष्टा व्यक्तित्व के स्थान पर सावधान महानुभाव ज्यादा लगते जबकि वाचिक ऊष्मा में कोई कमी नहीं होती। होली के दिनों में इन सबके यहाँ जाया जाता। पंतजी के बालों से लेकर गालों तक पर गुलाल लगाते मजा लिया जाता। कुल मिलाकर पंतजी का व्यक्ति एक गुलाब था

जो अपनी क्यारी के बाहर पैर निकालने में संकोच करता था। लेकिन महादेवी वर्मा की अपनी होली होली थी। पूरी तरह अभिव्यक्त दिखते हुए अनभिव्यक्त बने रहने की कला में वह सिद्धहस्त थीं। पंतजी से ठीक विपरीत देवीजी के यहाँ आतिथ्य-सत्कार व्यंजनपूर्ण होता। उनका शाश्वत हँसना, वर्षा भीगे किसी गाछ के नीचे खड़े होना जैसा होता जिसे हवा शाश्वत हिला रही होती और वर्षा-बूँदों में आप भींग रहे होते। घंटों बैठने के बाद भी सिवाय उनकी हँसी के याद नहीं पड़ता कि देवीजी से कोई साहित्यिक संलाप हुआ हो। हाँ, गांधीजी से लेकर दद्दा मैथिलीशरण गुप्त, राय कृष्णदास, निराला-पंत किस-किसके संस्मरण नहीं सुनाये जाते। वह प्रायः भूल जातीं कि ये ही संस्मरण आपको वह हमेशा सुनाती रही हैं—शायद हँसी का प्रकार भी। यदि अन्यथा न लिया जाए तो कहा जा सकता था कि देवीजी से ज्यादा उनका वह एकान्त, प्रशस्त आवास अधिक आकर्षक और सृजनात्मक लगता था।

महादेवीजी के संदर्भ से उनके वे रेखाचित्र याद आ रहे हैं, जिनमें उन्होंने अनाम व्यक्तियों को अमरता दी। साथ ही ''साहित्यकार संसद'' मूर्त हो आता है। संसद की योजना और आरंभ कितना भव्य था। लगता था कि साहित्य के क्षेत्र में देवीजी एक बड़ी रेखा खींच रही हैं। गंगातट पर रसूलाबाद स्थित संसद का भवन, निश्चित ही साहित्य-साधना की दृष्टि से काव्य स्थान था। निरालाजी को लाकर रखा गया था। ''अश्क'' भी कुछ समय रहे परन्तु कुछ समय बाद संसद की सारी गतिविधियों पर ताला पड़ गया, जो फिर नहीं खुला। इलाचंद्र जोशी देवीजी के निकट हुआ करते थे परन्तु जब भी इस बारे में चर्चा होती तो वह अपना नारियल-हुक्का गुड़गुड़ाते चुप हो जाते।

काफी दिनों से मैंने कोई उपन्यास नहीं लिखा था। ''यह पथ बन्धु था'' की सफलता पर मानवजी प्राय: कहा करते थे कि यह तो ''फ्लूक' में मैं लिख गया। दुबारा कोई ऐसा उपन्यास मैं नहीं लिख सकता। शायद अन्य लोगों को भी ऐसा ही लगने लगा था। सिवाय हँसते हुए कॉफी पीने के और किया ही क्या जा सकता था? परन्तु ऐसा लगता है कि अवचेतन इस चुनौती को स्वीकारने की योजना बना रहा था, और वह योजना ''उत्तरकथा'' के रूप में प्रतिफलित हुई। संयोग से तब तक मानवजी नहीं रहे वर्ना वे इसे भी कितना ''फ्लूक'' कहते-समझते, नहीं जानता। सच तो यह है कि आपात-काल हम सबको आमूल हिला गया था। कुछ लेखक ''मीसा'' में बंदी भी बना लिये गये थे। सत्यव्रत सिन्हा का तो बाद में बंदी की दशा में देहान्त भी हो गया था। हम सब अपनी तरह से इस अधिनायकवाद के विरुद्ध लिख-पढ़ रहे थे। मेरी ''इतिहास और प्रार्थना'' कविता की इस संदर्भ में काफी चर्चा भी हुई थी। कालक्रम में मुझे भी लगा कि अब मैं पुन: कोई बड़ा उपन्यास लिख सकता हूँ और ''उत्तरकथा'' का श्रीगणेश हुआ। तभी अशोक वाजपेयी ने चाहा कि म०प्र० संस्कृति विभाग ने जो तीन सृजनपीठ उज्जैन, भोपाल और सागर में स्थापित कीं उनमें से किसी एक पर आ जाऊँ। इस प्रसंग में उन गाढ़े दिनों की एक घटना याद आ रही है जब महिमा बहुत बीमार थीं। बच्चे भी काफी छोटे थे। आमदनी का भी कोई व्यवस्थित स्रोत नहीं था, तभी नन्ददुलारे वाजपेयीजी इलाहाबाद घर आये। वह उन दिनों विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन के कुलपति थे। वाजपेयीजी काशी में मेरे गुरु ही नहीं थे बल्कि मेरे अपूर्ण शोधकार्य के निर्देशक भी रहे, परन्तु वह तब सागर विश्वविद्यालय में सहसा विभागाध्यक्ष होकर चले गये। वह अपने साथ मुझे भी तब ले जाना चाहते रहे परन्तु मैं नहीं गया। उस दिन जब वाजपेयीजी, पाठकजी आदि को देखा तो थोड़ा चौंका जरूर। पत्नी बीमार थीं अत: स्वागत-सत्कार भी ठीक से नहीं कर सका। इस बार वाजपेयीजी उज्जैन मुझे विभागाध्यक्ष बनाकर ले जाने का प्रस्ताव लेकर आये थे। कोई भी समझदार उन भीषण परिस्थितियों में चला जाता। मैंने उन्हें अपने तर्क दिये कि, मैं क्यों नहीं जाना चाहता। निश्चित ही वे तर्क वायवीय जैसे ही थे। पाठकजी और वाजपेयीजी मेरी असहमति पर दु:खी तथा क्षुब्ध होकर लौट गये।

आजं सोचता हूँ कि चला गया होता तो क्या हुआ होता और न जाकर क्या मैंने अच्छा नहीं किया? तो इस परिपार्श्व और मानसिकता में अशोक का प्रस्ताव नहीं स्वीकारता, परन्तु यह किसी भी प्रकार से नौकरी नहीं थी। पूरे सम्मान के साथ मात्र दो वर्षों के लिए मुझे जाना था लेकिन मैं चूँकि उपन्यास आरंभ कर चुका था इसलिए अशोक को सूचित कर दिया कि यदि आ सकूँगा तो उपन्यास के पूरे होने पर ही संभव होगा। ओर सन् '८२ में पहला खण्ड तैयार हो गया। संयोग से सन् '८२ में मैंने साठ वर्ष पूरे किये थे। इस षष्ठिपूर्ति के अवसर पर ''लोकभारती'' ने एक भव्य आयोजन किया। वात्स्यायन ने पहली बार मंच से मुझे तथा मेरे लेखन को रेखांकित किया। एक प्रकार का आत्मविश्वास आना ही था और मैंने '८४ में दूसरा खण्ड भी पूरा कर लिया। ऐसा लगने लगा कि जीवन और लेखन का संघर्ष अब शेष होने जा रहा है। सागर वाली सृजन-पीठ पर जाने का प्रश्न ही न था। संयोग से उज्जैन की प्रेमचंद पीठ पर शमशेर थे और चार वर्ष रहने के उपरान्त वह जाना चाहते थे और इस प्रकार मैं उज्जैन पहुँचा। चूँकि यह मनोनयन मात्र दो वर्षों के लिए ही था इसलिए ऐसा लगा कि पिछले चालीस वर्षों के अनवरत संघर्षों में भले ही न टूटा परन्तु थकान तो आ ही गयी थी। सोचा जन्मभूमि के आधारभूत मौसमों में, धूप में जड़ाये अंगों को कुछ तो फैला सकूँगा।

इस बीच बिल्कुल ही अप्रत्याशित तरीके से बेटी वान्या के विवाह का प्रस्ताव लेकर प्रमोद त्रिवेदी उपस्थित हुए। प्रस्ताव निश्चित ही एक सम्पन्न परिवार से आया था परन्तु हम इसे स्वीकार सकने की स्थिति में ही नहीं थे। योग्य वर का मिलना दुर्लभ ही होता है न जाने कहाँ-कहाँ और कितना-कितना भटकना होता है और मैं इस संबंध को टाल ही नहीं रहा था बल्कि टूट जाने की चेष्टा करता रहा लेकिन परिणाम उल्टा ही निकलता गया। सारी कठिनाई यह थी कि एक पैसे का भी सिलसिला नहीं था। मैंने एक तरह से स्पष्ट भी कर दिया कि कुछ भी दे सकने की स्थिति हमारी नहीं है। तब भी दो वर्षों तक टालने के बाद भी बात आगे ही बढ़ती गयी। जब लगने लगा कि यह विवाह तो करना ही होगा तब और ज्यादा चिंता हुई कि खर्च कहाँ से आएगा? यों लोग थोड़ा-बहुत किसी से माँग लेते हैं लेकिन मेरे सामने तो विवाह के पूरे खर्च की समस्या थी। अगर हाथ फैलाया भी तो कौन

सहायता करेगा? उज्जैन पहुँचने के बाद हठास तीन-तीन पुरस्कार घोषित हुए तो महिमा और मैं स्तब्ध रह गये। शायद यह संकेत था कि बेटी का विवाह तो होना ही है। सबसे ज्यादा तुष्टि तो यह हुई कि किसी से कुछ नहीं माँगना पड़ा, खासकर अपने किसी भी प्रकाशक तंक से कुछ नहीं कहना पड़ा।

इलाहाबाद के अंतिम कुछ वर्षों में शाम का कॉफी-हाउस में बैठना कम होता गया। कुछ का समय से पूर्व निधन, जैसे मानवजी, साही आदि, एक कारण थे। साथ ही वहाँ बैठने वालों में उत्साह क्रमशः छीजता चला गया। सन् '५०/६० के दशकों वाले तेवरों की वास्तविकता उजागर होती चली गयी। बिना लिखे लेखक बने रहने की राजनीति आखिर कब तक चलती। इसका नतीजा यह हुआ कि बैठना विरल होता गया। लेकिन चोर चोरी से चला जाए तो इसका मतलब यह तो नहीं कि वह हेराफेरी से भी गया। मेरे सामने इस हेराफेरी का विकल्प था मुहल्लेदारी। हमारे घर के पास खुल्दाबाद चौराहा है। ऐन चौराहे पर पुत्तन महाजन की परचूनी की एक दूकान है। सच तो यह था कि दुकान, मकान के बाहरी हिस्से में थी। न जाने कितने प्रकार के व्यवसायों का अनुभव इस दुकान और पुत्तन महाजन का था मगर भूसे के और आटा पीसने के व्यवसाय के अलावा सभी धंधे विफल रहे। यह दुकान सिर्फ इसलिए थी कि एक तो यह घर ही था दूसरे चौराहे पर थी। बैठने का ठीया जैसा था। सामान के नाम पर जो दो-चार हेयर-आइल, साबुन या किताब-कापियाँ थीं उन्हें बेचे जाते किसी रोज नहीं देखा होगा। ऐसी परित्यक्ता दुकान में एक तख्त पर चार-आठ व्यक्ति रात नौ बजे से ग्यारह बजे तक पान खाते बैठे रहते। स्थायी सदस्यों के अलावा और लोग किसी प्रकार अँट जाते। गर्मियों में दुकान के सामने दो कुर्सियाँ, एक बैंच और दुकान की सीमेंट वाली पटरी पर दरी डालकर इस सड़क-संसद, यही इसका नाम प्रचलित था, का सारे साल अधिवेशन चलता होता। इसमें तत्कालीन जनता दल के विधायक बैजनाथ प्रसाद कुशवाहा के अलावा लक्ष्मीनारायण शुक्ल, कन्हैयालाल श्रीवास्तव, निरंजनलाल, श्रीचंद, डाक्टर नरोत्तमशरण, अवकाश प्राप्त निगम बाबू, स्टेशन पर एक वेन्डर के मालिक चौबेजी, हीरा आदि हुआ करते थे। इसके अलावा प्रेमबाबू, बच्चा कालिया, पंडाजी, दूधवाला, प्यारे पहलवान आदि इतने तरह के लोग आते-जाते रहते कि खासी गहमागहमी बनी रहती। पूरे मुहल्ले की राई-रत्ती का हिसाब यहाँ रखा मिलता। राजनीति के वो-वो पख निकाले जाते कि बस। बैजनाथ कुशवाहाजी की पार्टी को लेकर कांग्रेसी मानसिकता के लोग काफी खरी-खोटी सुनाते और सब मजा लेते। मैं प्रायः चुप ही रहता। सबको सुनना मुझे काफी

दिलचस्प लगता। हालाँकि एकाध को छोड़कर शायद ही किसी ने मेरा कभी कुछ पढ़ा होगा लेकिन सब मुझे ''बाबूसाब'' कहते। उनकी धारणा थी कि बाबूसाब बहुत बड़े आदमी हैं। मैं पत्रकार हूँ या लेखक, इससे किसी को कोई सरोकार नहीं था। दो-तीन घंटे बराबर पान खाते बीतता और जब सड़कें वीरान हो जातीं, कुत्ते भौंकने लगते तो हम लोग विदा होते। इलाहाबाद में जिस दिन सड़कों पर लाइट होती है वह सौभाग्यशाली दिन होता है. वर्ना एक हाथ में टार्च और दूसरे में छड़ी लिये चौराहे से घर लौटते में आकाश में तारे चमक रहे होते। इलाहाबाद के अन्तिम दिनों में सड़क-संसद ही विकल्प थी।

उज्जैन गया था मात्र दो वर्षों के लिए लेकिन पूरे सात वर्ष रहना पड़ा। शुरू के दो वर्ष तो बेटी के विवाह तथा पारिवारिक व्यस्तता में बीत गये कुछ भी लिखना-पढ़ना न हो सका। लेकिन उसके बाद के वर्षों में तीन काव्य संग्रह और दो विचार-ग्रंथ प्रकाशित हुए। शुरू-शुरू में पीठ को सम्मानजनक सुविधाओं से लैस करने में भी काफी समय लगा। उज्जैन के दिनों में सुमनजी से यदा-कदा ही मिलना हो पाता था परन्तु पवन कुमार मिश्र, प्रो० बी० जी० टंडन तथा प्रमोद त्रिवेदी से समय के साथ घनिष्ठता बढ़ती गयी। घंटों साहित्य-चर्चा होती। विश्वविद्यालय का परिसर वैसे भी बहुत शांत था। मेरा आवास सिरे पर था इसलिए भी खासा खुलापन लगता। कभी घूमने भी जाया जाता। वर्षों बाद ऐसी निश्चिन्तता अनुभव कर रहा था। हालाँकि तब नौकर के भरोसे अकेले ही रह रहा था परन्तु नौकर रणजीत बहुत समझदार था इसलिए किसी प्रकार की कभी असुविधा नहीं हुई। वर्ष में माह-दो माह के लिए छुट्टियों में महिमा आ जातीं। पड़ौस का अमृतफले परिवार मेरा बहुत ध्यान रखता था। इस अवधि में तेजी से अप्रत्याशित चीजें घटित हो रही थीं। एक के बाद एक पुरस्कार घोषित हुए। इसी अवधि में युगोस्लाविया के विश्व-काव्य-समारोह में भारत का प्रतिनिधित्व करने स्त्रूगा गया। उस अवधि में अंग्रेजी विभाग के रीडर श्री लक्ष्मीशंकर शर्मा ने मेरी काफी कविताएँ अंग्रेजी में अनूदित कीं और पूरे मनोयोग से श्री दिलीप अमृतफले ने विश्वविद्यालय से लौटकर देर रात तक जिस प्रकार उन्हें टाइप किया उसके लिए कृतज्ञ ही हुआ जा सकता है। उज्जैन के बाद के वर्षों में प्रभात कुमार भट्टाचार्य और उनके परिवार से आत्मीयता प्रगाढ़ हुई। जब ''भारत-भारती'' पुरस्कार घोषित हुआ तो प्रभातजी ने अपनी लोककला अकादेमी के तत्वावधान में सम्मान आयोजित किया। बाहर से अनेक साहित्यकार राजी सेठ, गिरिराज किशोर, सरोज कुमार, मीरा श्रीवास्तव आदि आमंत्रित किये गये। डा० पांडुरंगराव की इस आयोजन में उपस्थिति बहुत महत्वपूर्ण थी। अब स्पष्ट हो गया था कि संघर्ष का वह रूप समाप्त हो चुका था। शायद वर्षों बाद सतह की खुली हवा अपने स्वत्व में अनुभव करने लगा। युगोस्लाविया यात्रा पर एक यात्रा वृत्तान्त ''कितना अकेला आकाश'' शीर्षक से दुबई में अपनी बेटी-दामाद के साथ पन्द्रह दिन रुक कर तैयार भी कर लिया था

परन्तु एक बार पुन: लिखने के चक्कर में वह आज तक रुका पड़ा है, खैर-

उज्जैन शायद न छोड़ता यदि मानदेय संबंधी परिवर्तन मनोनुकूल हो जाता। मैं इस मानदेय राशि को वर्तमान की स्थिति के अनुकूल चाहता था। इस बीच अशोक वाजपेयी भी संस्कृति विभाग से जा चुके थे। सरकार भी बदल चुकी थी अत: अब यहाँ बना रहना ज्यादती ही लग रहा था। निश्चित ही वापस इलाहाबाद लौट जाना था लेकिन प्रभातजी आदि कई मित्र नहीं चाहते थे कि मैं उज्जैन छोड़ूँ। उज्जैन की परिसीमा से उनका तात्पर्य मालवा भी था। मेरे साथ मालवा का अब कोई रागात्मक संबंध भी नहीं रह गया था। सारा जीवन तो इलाहाबाद में बीता था। वह मेरी कर्मभूमि थी जहाँ व्यक्ति के रूप में तथा लेखक के रूप में घर-परिवार संघर्ष, विरोध, यश, अपयश सभी कुछ तो मिला। यहाँ तक पहुँचने का पूरा श्रेय इलाहाबाद को ही तो जाता है। हालाँकि अब इलाहाबाद भी वह नहीं रह गया था। अधिकांश साथी, समकालीन या तो जा चुके थे या लस्टम-पस्टम बुढ़ा रहे थे। अधिकांश के मन में मनोग्रंथियाँ बन चुकी थीं। किसी लेखक का, लेखक न बन पाना, चाहे कारण वह स्वयं ही रहा हो, उसे कितना विद्रूप बना देता है, इसे मैंने पास से देखा है। जिनके साथ कभी घंटों बैठा जाता था, जीवन्तता लगती थी, उनके साथ जरा सा भी बैठना कितना दूभर हो जाता है इसे बताया नहीं जा सकना। आपके लेखक बनने और उनके लेखक न बन पाने की खाई को पाट सकना दोनों के लिए ही मुश्किल होता है। खासकर तब और भी कठिन हो जाता है जब उन्हीं लोगों के बीच मीरा श्रीवास्तव, रामकमल राय, सत्यप्रकाश मिश्र जैसे लेखक आलोचक पूरी तार्किकता के साथ आपके पक्ष में खड़े दिखायी दें। नि:सन्देह यह स्थिति असुविधाजनक थी परन्तु निरन्तर लिखते जाने वाले के सन्दर्भ में क्या यह अनिवार्य परिणति नहीं थी? इलाहाबाद की इस विषम मानसिकता के बावजूद लौटना तो वहीं था। लेकिन मनुष्य के आगे-आगे भवितव्य चलता होता है और वह कब संयोग बनकर घटित हो जाएगा इसका पूर्वानुमान सटीक रूप में ज्योतिषी को भी शायद नहीं होता होगा। इंदौर के दैनिक ''चौथा संसार'' में प्रभाकर माचवे चार वर्षों से प्रधान संपादक थे लेकिन जून में सहसा उनका देहान्त हो गया। इस अप्रिय घटना को सुना मैंने भी था परन्तु इसका प्रभाव मुझ पर पड़ने वाला है इसकी कोई कल्पना नहीं थी। मित्रों और हितचिन्तकों को लगा कि यदि मैं ''चौथा संसार'' में बुला लिया जाऊँ तो मेरा इलाहाबाद जाना रुक सकता है। हमारे प्रभातजी भी खासे अड़ियल किस्म के आशावादी तो हैं ही साथ ही योजनाशूर भी हैं। पता नहीं कैसे, किस तरह और मुस्तफा तथा भगवती आदि के माध्यम से इस बारे में पहल की गयी और शायद अक्टूबर में हमारी और ''चौथा

संसार'' के अधिष्ठता श्री सुरेंद्र संघवी की भेंट करवा ही दी गयी। सुरेंद्रजी के शालीन व्यवहार और संकोची सौजन्यता का मुझ पर प्रभाव पड़ा लेकिन मैं जान छुड़ाना चाहता था इसलिए कुछ ऐसी शर्तें भी रखीं कि सुरेंद्रजी न मानें। लेकिन वे मन ही मन निर्णय ले चुके होंगे। मगर मैंने पुनः विचार करने के बहाने से कुछ समय चाहा और मैं इलाहाबाद चल पड़ा। हालाँकि महिमा तो शुरू दिन से इसके पक्ष में नहीं थी कि मैं अब किसी नयी झंझट में फँसूँ और अपना समय नष्ट करूँ। बढ़ती आयु और गिरते स्वास्थ्य को देखते हुए मुझे अब वह सब लिख डालने पर ध्यान देना चाहिए जिन्हें मैं महत्वपूर्ण मानता हूँ। उनका तर्क ठीक था। और मैं इलाहाबाद पहुँचने के बाद नये सिरे से आरंभ करने की योजना में लग गया। इन दो माहों में प्रभातजी के पत्र आते रहे, प्रगति से भी सूचित करते रहे लेकिन मैंने ध्यान नहीं दिया। लेकिन जनवरी के अंत में तार और फोन से मुझे घेरा गया। अजीब साँसत की स्थिति थी कि मैं निकलने की चेष्टा में धँसता ही जा रहा था। इस बार की सुरेंद्रजी से भेंट के समय ''जनसत्ता'' के प्रभाष जोशीजी भी थे। मैंने किसी प्रकार थोड़ा समय और चाहा। समझ नहीं पा रहा था कि जब मेरी सारी शर्तें मान ली गयी थीं तो अब मैं अस्वीकार किस आधार पर करूँ और तब हारकर मैंने सन् '९३ की शिवरात्रि के दिन हथियार डाल दिये और दूसरे ही दिन से प्रिंट लाइन में मेरा नाम छपने लगा।

चूँकि अभी आवास का प्रबंध नहीं हुआ था अतः आगामी दो-तीन महीने उज्जैन से प्रति मंगलवार को टैक्सी से आता-जाता रहा। मैं संस्कृति विभाग को सिंहस्थ के बाद जून में आवास खाली कर देने की सूचना दे ही चुका था इसलिए जून में जब फिर उज्जैन से अपना डेरा-डंडा उठाया तो हँसी आ गयी कि जीवन भर गाड़रे-लुहारों की भाँति अनिकेतन बने यहाँ से वहाँ भटकता ही रहा। वैसे संगमनगर वाला यह आवास खासा हवादार, एकान्त और शांत था साथ ही हम दो प्राणियों के लिए काफी था। आवास ''फरनिश्ड'' होगा इस शर्त की अपनी व्यथा-कथा है जिसकी चर्चा अब व्यर्थ है। साधारण स्थिति में मैं शायद लौट जाता परन्तु बीच में अनेक आत्मीय प्रभातजी, प्रभाष जोशी, मुस्तफा आरिफ, रामराजेश मिश्र आदि-अंलघ्य-विन्ध्या बनकर खड़े लग रहे थे। जो हो, लेकिन वस्तुहीन आवास

भी खासा दिलचस्प होता है। दिनों तक, बल्कि कुछ सामान तो काफी समय तक ऐसा बँधा रखा रहा जैसे कि हम घर में नहीं प्लेटफार्म पर हैं। बुरा लगना तो स्वाभाविक ही था परन्तु किसी से कुछ कहना भी व्यर्थ था क्योंकि शायद सुरेंद्रजी ने काफी बाद में अपनी सीमा का संकेत दे दिया था और तब तक बात बहुत आगे बढ़ चुकी थी। वैसे मैं समझता हूँ कि किसी भी प्रादेशिक समाचार-पत्र की अपनी कई विवशताएँ होती हैं। फिर भी मैंने मन ही मन तय कर लिया कि अगली फरवरी तक ही रहूँगा।

सन्'९२/९३ का वर्ष काफी घटनापूर्ण बीता। सामान्यतः तो मैं सप्ताह में दो ही संपादकीय देता था परन्तु अयोध्या-कांड की घटना के समय लगभग एक पखवाड़े तक रोज ही लिखा और जिसका प्रभाव भी पड़ा। जो हो मैं फरवरी की प्रतीक्षा कर रहा था। लेकिन जिस बात के लिए प्रतीक्षा कर रहा था वह तो सम्पन्न नहीं हुई परन्तु जो सम्पन्न हुआ उससे आसन्न जरूर हुआ। मुझे २५ फरवरी को बरास्ता उज्जैन प्रभातजी के साथ सूरत विश्वविद्यालय के एक सेमीनार का उद्घाटन करने जाना था। मैं २२ फरवरी को ही उज्जैन चला गया। मैंने सोचा था कि सूरत से लौटकर सुरेंद्रजी को अपने जाने के बारे में बता दूँगा। २३ फरवरी की शाम को हम लोग चाय पी रहे थे कि इलाहाबाद से रमेश ग्रोवर का फोन आया। उन्होंने इंदौर घर पर तथा ''चौथा संसार'' में भी मुझे तलाशा तो मालूम हुआ कि वे लोग खुद मुझे ढूँढ रहे हैं। फोन इसलिए था कि वह एक अत्यंत अप्रत्याशित सूचना देने के लिए अकुला रहे थे कि इस वर्ष के ज्ञानपीठ पुरस्कार की घोषणा मेरे नाम पर हुई है। समाचार अप्रत्याशित ही नहीं अविश्वसनीय भी था। ''चौथा संसार'' से इसकी पुष्टि के लिए जैसे ही फोन किया तो पुष्टि तो हुई ही, साथ ही दूसरे दिन प्रेस क्लब और ''चौथा संसार'' द्वारा आयोजित सम्मान-समारोह की सूचना भी मिली। ''चौथा संसार'' ने जितनी आत्मीयता और सम्मानजनक रूप से आयोजन किया उसके बाद मेरे लिए यह संभव ही नहीं रह गया कि तत्काल मैं अपने जाने के बारे में सुरेन्द्रजी से कहूँ।

उसके बाद जिस प्रकार पूरे देश में सम्मान-आयोजनों का जो क्रम आरंभ हुआ उसे देखकर सिवाय विनम्र होने के और क्या कहा जा सकता है। लेखन के पचास वर्षों की परिणति इस बिन्दु पर होगी क्या इसकी कोई कल्पना थी? आज लगता है कि जिस दिन जल का वह बिन्दु संकोच से चलना शुरू करता है, प्रवाह बनता है, यात्रा करता है और तब मात्र एक नदी से ''गंगा'' की संज्ञा द्वारा अभिषिक्त होकर देश ''स्पेस'' के मुहाने सुन्दर-वन में शतमुखी होकर विराटता

प्राप्त कर लेता है, क्योंकि अब सागर-संगम होने वाला है। तब अपना देश ''स्पेस'' फलाँग कर सागर में महालय होना क्या काल का वरण करना नहीं है? निश्चित ही मैंने अपने अनाम बिन्दु की यात्रा का ऐसा महालय कभी नहीं सोचा था। क्या मुझे कृतार्थता नहीं अनुभव करनी चाहिए? लेखन के इन पचास वर्षों में मैं और मेरा लेखक दोनों ही सार्थक हुए।

इति नमस्कारान्ते—

१५-९-९३
इंदौर